विचार
↓
चिंतन
↓
शोध सृजन

ISSN : 2455-4219

आलोचन दृष्टि

Aalochan Drishti

An International Peer Reviewed Refereed Research Journal of Humanities

वर्ष-5 अंक-17 जनवरी-मार्च, 2020

प्रधान-संपादक
डॉ० सुनील कुमार मानस

संपादक
डॉ० योगेश कुमार तिवारी

प्रबंध-संपादक
श्री सुधीर कुमार तिवारी

ISSN : 2455-4219

आलोचन दृष्टि

Aalochan Drishti

An International Peer Reviewed Refereed Research Journal of Humanities

वर्ष-5	अंक-17	जनवरी-मार्च, 2020
Year - 05	**Volome - 17**	**Jan.-March, 2020**

प्रधान-संपादक

डॉ० सुनील कुमार मानस

संपादक

डॉ० योगेश कुमार तिवारी

प्रबंध-संपादक

श्री सुधीर कुमार तिवारी

© **प्रकाशक :**

संपादकीय/प्रकाशकीय पता :–

आलोचन दृष्टि प्रकाशन,

आजाद नगर, बिन्दकी, जनपद–फतेहपुर,

उ0प्र0–212635

ई–मेल : aalochan.p@gmail.com

दूरभाष : 09580560498/09451949951

मुद्रण :– जय ग्राफिक्स एण्ड कान्सट्रक्सन,
आई0टी0आई0 रोड़, फतेहपुर–212601।

सदस्यता शुल्क	एक अंक	वार्षिक	आजीवन
व्यक्तिगत	300	1200	10,000
संस्थागत	400	1500	15,000

संरक्षक एवं सलाहकार मंडल

- **प्रो0 गिरीश्वर मिश्र,** शिक्षाविद् एवं पूर्व कुलपति, म. गां. अं. हिं. वि., वर्धा, (महाराष्ट्र)।
- **प्रो0 रामसजन पाण्डेय,** कुलपति, बाबा मस्तनाथ विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)।
- **प्रो0 चितरंजन मिश्र,** पं.दीन दयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर (उ0प्र0)।
- **प्रो0 नंदकिशोर आचार्य,** सुथारों की बड़ी गुवाड़, बीकानेर, राजस्थान–252028।
- **प्रो0 सदानंद गुप्त,** निदेशक, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, (उ0प्र0)।
- **प्रो0 कृपाशंकर चौबे,** महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, (महाराष्ट्र)।
- **प्रो0 माधवेन्द्र पाण्डेय,** हिन्दी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालयए शिलांग, मेघालय।
- **प्रो0 प्रेमशंकर त्रिपाठी,** आशीर्वाद अपार्टमेन्ट, सी ए 5/10, देशबन्धु नगर, कलकत्ता–100059।
- **प्रो0 दिलीप सिंह,** इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक (म.प्र.)।
- **प्रो0 आर0 एस0 सर्राजू,** हैदराबाद विश्वविद्यालय, (तेलंगाना)।
- **प्रो0 उमापति दीक्षित,** केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा (उ0प्र0)।
- **प्रो0 एस0 वी0 एस0 एस0 नारायण राजू,** तमिलनाडु केन्द्रीय विश्वविद्यालय, तमिलनाडु।
- **Shri- Tejendra Sharma,** Harrow & Weealdstone, Middlesex HA3 7AN (U.K.)
- **Shrimati- Susham Vedi,** New Yark, (U.S.A.)

संपादक-मंडल

- **डॉ0 उदयन मिश्र,** हरिश्चन्द्र पी. जी. कॉलेज, वाराणसी, (उ0प्र0)।
- **डॉ0 बलराम शुक्ल,** संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
- **डॉ0 दण्डिभोट्ला नागेश्वर राव,** सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, श्री चंदशेखरेंद्र सरस्वती विश्वविद्यालय, एनात्तूर–कांचीपुरम्, तमिलनाडु।
- **डॉ0 शशिभूषण भट्ट,** संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, (उ0प्र0)।
- **डॉ0 अमित द्विवेदी,** इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज, (उ0प्र0)।
- **श्री राम कुमार मानिक,** शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, (उ0प्र0)।

विधि-परामर्शदाता

श्री **उमाशंकर त्रिपाठी** (एडवोकेट), सिविल कोर्ट, फतेहपुर उ0प्र0–212601।

नोट : सभी पद अवैतनिक एवं अव्यावसायिक हैं। प्रकाशित शोध–लेखों एवं उसमें दिये गये उद्धरणों के वाद–विवाद संबंधी किसी भी कार्यवाही का शोधकर्ता (लेखक) स्वयं जिम्मेदार होगा। इस तरह के किसी भी विवाद में संपादक, प्रकाशक एवं 'आलोचन दृष्टि' परिवार के किसी भी सदस्य की कोई जिम्मेंदारी नहीं होगी और किसी भी प्रकार के विवाद का समाधान फतेहपुर न्यायालय में होगा।

संपादकीय

सामान्यतः आलोचना के जिन संदर्भों की ओर हम ध्यान ले जाते हैं, वह या तो सैद्धांतिक होते हैं, या फिर व्यावहारिक होते हैं अथवा किसी विशेष विचारधारा से प्रभावित। इन्हीं बातों के आधार पर लगभग भारतेंदु की आलोच्य कृति 'नाटक' से लेकर 1970 तक की आलोचना भरी पड़ी है। 1970 के बाद आलोचना की एक विशेष धारा हमारे सामने दिखलाई पड़ती है, जिसे हम विमर्श की आलोचना के रूप में जानते हैं। इस आलोचना ने पूर्ववर्ती समस्त वैचारिक, सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक आलोचना की धारा को बाधित ही कर दिया है। पर इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि विमर्श की इस आलोचना ने आलोचना के एक पक्ष को आगे बढ़ाने का भी कार्य किया है या एक नवीन मार्ग खोला है, परन्तु यह कुछ ही समय में एक विशेष रूढ़ि के रूप में हमारे सामने उपस्थित हो जाती है। वह रूढ़ि है उसकी एकांगी सोच और समझ, जिसने आलोचना की विराट और भव्य चिंतन की समन्वयवादी परम्परा को लगभग समाप्त–सा कर दिया है।

इस समय जो भी आलोचना हम देखते हैं, पढ़ते हैं, सुनते हैं, वह किसी न किसी विषय का एक विमर्शात्मक विवरण ही प्रस्तुत करता है। विमर्श की इस समसामयिकता ने आलोचना के व्यंग–विनोद को तो समाप्त ही कर दिया है। आलोचना को, जो लोग बुराई के संदर्भ में देखते हैं उसका यही मुख्य कारण था कि उसमें व्यंग–विनोद भी काफी गहरे रूप में समाहित था, जो पूर्णतः अब गायब है। किसी भी विषय पर कुछ भी बोल देना, या कह देना, पेज भर देना या कुछ भी लिख देना, आज आलोचना की विषय वस्तु हो गयी है। यह आलोचना की बहुत बड़ी कमजोरी है। इससे आलोचना की जो सृजनात्मकता होती है, वह गायब हो गई है या आलोचना सृजन का अंग नहीं रह गयी है या फिर वह मंच में प्रशांसात्मक अभिव्यक्ति करने वाली, और उसके बाहर वाह–वाह की पहचान की पर्याय बन गयी है।

अगर हम ध्यान दें तो साहित्य के क्षेत्र में, जो रचना की कमजोरियों और मजूबतियों की चर्चा करने वाली, उसके शास्त्रीय निरूपण की व्याख्या होती थी, वही आलोचना होती थी। आलोचना का यह भी एक कार्य था कि रचनाकार या रचना के विचारों को हम सब तक पहुंचा दें, जो उसको जानने या समझने में असमर्थ हो। इस तरह की आलोचना का एक रचनात्मक स्वरूप भी हमारे सामने उपस्थित था, जिसकी ओर काशीनाथ जी इशारा करते हैं कि 'आलोचना भी एक रचना है'। भले ही उनकी इस अवधारणा पर कुछ लोग सवाल उठाते हों, पर वह निश्चित रूप से एक विचारणीय बिंदु है। हम इसको अनदेखा नहीं कर सकते। ठीक इसी तरह 'साहित्य या रचना भी एक आलोचना ही है'। इस तरह साहित्य सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, नैतिक, सैद्धांतिक, व्यवहारिक और साहित्यिक आलोचना करते हुए ही आगे बढ़ता है।

साहित्यिक–आलोचना के तमाम सूत्र भी हम देखते हैं, चाहे वह समाज के दर्पण के रूप में हो, या जनसमूह के विकास के रूप में हो, या सामाजिक जागरण के संदर्भ में हो, या फिर मनुष्यता के विकास के रूप में ही क्यों न हो। बहुत से ऐसे सूत्र हैं जिससे हम यह स्पष्ट कर सकते हैं कि साहित्य भी एक प्रकार की आलोचना है, समझने–समझाने का माध्यम है और व्याख्या भी। इसी प्रक्रिया को ही अब अधिकतर लोग आलोचना का पर्याय भी मानने लगे है, कुछ हद तक यह सच है, पर पूर्णतः नहीं। इस पर विस्तार से चर्चा फिर कभी करेंगे।

दूसरी बात यह है कि वर्ष 2020 महात्मा गांधी के 150वीं जयंती के रूप में बड़ी धूमधाम से मनाया जा रहा है। गांधी जी अगर होते तो वह अब ढेढ़ सौ वर्ष के पूरे हो गये होते। उसको याद करते हुए बहुत

से आयोजन किए जा रहे हैं चाहे वे राजनीतिक हो, सामाजिक हो, सांस्कृतिक हो या फिर साहित्यिक हो, हर जगह उनको लेकर तमाम तरह के नैतिक, आदर्श और मर्यादित बातें बड़े जोर–शोर से प्रस्तुत की जा रही है। पर क्या कारण है कि कोई भी उनकी बातों को अमल नहीं करता। आयोजन करने वाला, आयोजन में शामिल होने वाला, आयोजन में बोलने वाला, और आयोजन में सुनने वाला, कोई भी व्यक्ति उनके सिद्धांतों को अपने जीवन में आत्मसात नहीं करता या कर पाता। हमें इसके कारणों को भी तलास करने की जरूरत है। इस समय या तो उनके विचारों को आत्मसात करना कठिन है या फिर ऐसी कौन सी बात है कि तमाम तरह के ढिंढोरा पीटते के बाद भी जागरण के हर संभव प्रयास से हम वंचित रह जाते हैं।

एक बात यह भी ध्यान देने वाली है कि गांधी को गांधी बनाने वाली कस्तूरबा की भी यह 150वीं जयंती है पर उनका किसी ने नाम नहीं लिया। कस्तूरबा लगभग उपेक्षिता सी ही दिखी। यह कितनी बड़ी विडंबना है जिस गांधी को गांधी बनाने में कस्तूरबा ने अपना जीवन न्योछावर कर दिया, उसका कोई नाम लेने वाला नहीं है। कस्तूरबा तो यहां सिर्फ एक विचार की कड़ी है। न जाने कितनी ऐसी विभूतियां रही हैं, जिन्होंने इस देश के लिए जागरण के बीज मंत्र बोये, पूरे देश को जगाने की पहल की, उनका कोई नाम तक नहीं जानता। साहित्यिक दृष्टि से हम केवल एक नाम की सूचना देना चाहते हैं, वह है, मैला आंचल का बावन दास, जो सबसे प्रभावित करने वाला चरित्र भी है उस उपन्यास में, और कहीं न कहीं वह गांधी से भी ज्यादा गांधी के विचारों को जीने वाला है। पर उसकी मृत्यु हो जाने के बाद भी किसी ने उसका नाम तक नहीं लिया; लिया तो दबी–कुची आवाज में, जिसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसे तमाम रूप हम सामाजिक जीवन में, राजनीतिक जीवन में देखते हैं। इसी तरह की उपेक्षा के चलते आज हमारे समाज की एकता कमजोर होती जा रही है। ऐसे में एक समृद्ध व्यक्ति जैसा चाहता है, वैसा काम करवा लेता है, जिसकी ओर हमें अब सोचने की जरूरत है, ध्यान देने की जरूरत है, नहीं तो हम अपना भविष्य भी खराब करेंगे– इसमें कोई संदेह नहीं।

यह महज संयोग ही है कि 'भारत और भारतीयता' तथा 'भारतीय चिंतन के विविध आयाम' पर केन्द्रित विशेषांकों के बाद प्रस्तुत अंक, सामान्य अंक के रूप में निकल रहा है। कारण यह है कि 2020 में 'आलोचन दृष्टि' पत्रिका ने विशेषांकों के निकालने की ही योजनाएं बनायी थीं, लेकिन कुछ ऐसे कारण रहें कि उन पर जो काम होना था, वह नहीं हो पाया। अस्तु विशेषांक, सामान्य अंक में परिवर्तित करके आपके सामने किया जा रहा है। विशेषांकों पर काम जारी रहेंगे। काम पूर्ण हो जाने के बाद निश्चित रूप से वह आपके समक्ष प्रस्तुत होंगे– ऐसा हमारा प्रयास भी और विश्वास भी।

सुखद है कि पत्रिका अपने 17वें सोपान से गुजरते हुए आपके समक्ष प्रस्तुत हो रही है, इस अंक में प्रकाशित होने वाले डॉ. सुनील कुमार मानस का 'राष्ट्रवाद और युवा चेतना', डॉ. सच्चिदानन्द देव पाण्डेय का 'भारतीय साहित्य में सूत्र–शैली की समृद्ध परम्परा और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल', डॉ. निशा शर्मा का 'हिन्दीं काव्य–धारा में गंगा का मूल्य–प्रबोध', डॉ. जाहिदुल दीवान का 'असम के हिंदी–भाषी–लोग' डॉ. एम. अब्दुल रजाक का 'कहानी को छोटी मुँह बड़ी बात कहने वाले नामवर और आलोचनात्मक संदर्भ' और डॉ. आशुतोष मिश्र का 'आचार्य विद्यानिवास मिश्र : भाषा और शिल्प' आदि शोध–लेख विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

अंत में मैं इस अंक के सभी शोध–लेखकों, पाठकों एवं 'आलोचन दृष्टि' परिवार के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिनके सहयोग से शोध–पत्रिका का यह अंक आपके समक्ष प्रस्तुत हो रहा है।

मार्च, 2020।

विषयानुक्रमणिका

1.	राष्ट्रवाद और युवा चेतना *डॉ. सुनील कुमार मानस*	01-06
2.	भारतीय साहित्य में सूत्र-शैली की समृद्ध परम्परा और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल *डॉ. सच्चिदानन्द देव पाण्डेय*	07-24
3.	आदिवासी समुदाय का सामाजिक-शैक्षणिक परिवेश *सुधीर कुमार तिवारी*	25-28
4.	हिन्दीं काव्य-धारा में गंगा का मूल्य-प्रबोध *डॉ. निशा शर्मा*	29-34
5.	असम के हिंदी-भाषी-लोग *डॉ. जाहिदुल दीवान*	35-37
6.	कहानी को छोटी मुँह बड़ी बात कहने वाले नामवर और आलोचनात्मक संदर्भ *डॉ. एम. अब्दुल रजाक*	38-42
7.	समकालीन स्त्री-लेखन एवं मृणाल पाण्डे *दिलीप कुमार*	43-46
8.	इक्कीसवीं सदी के कथा साहित्य में बुजुर्ग विमर्श *छविंदर कुमार*	47-51
9.	आचार्य चतुरसेन शास्त्री की ऐतिहासिक कहानियों का सांस्कृतिक अध्ययन *जगदीश मौर्य*	52-55
10.	इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कहानियों में नारी-चेतना *राजनाथ दुबे*	56-59
11.	अलका सरावगी के उपन्यासों का वस्तु-विश्लेषण *जितेश तिवारी*	60-66
12.	ग्रामीण स्त्री का अस्तित्व के लिए जंग : 'अकाल दण्ड' *मनीष कुमार पाण्डेय*	67-73
13.	अनैतिक-अफसरशाही का उद्घाटन बनाम 'तबादला' *मिथिलेश कुमार मिश्र*	74-79

14. ‘समुद्र में खोया हुआ आदमी’ उपन्यास की सामाजिक त्रासदी 80-83
शिव कैलाश यादव

15. निराला के काव्य में जनवादी-स्वर 84-86
सुमन सरोज

16. विकास यशकीर्ति का कृतित्त्व-व्यक्तित्त्व : एक अवलोकन 87-92
डॉ. मनजीत

17. शिवाजी के राज्य की शासन-प्रणाली 93-95
सुमन यादव

18. आचार्य विद्यानिवास मिश्र : भाषा और शिल्प 96-100
डॉ. आशुतोष मिश्र

राष्ट्रवाद और युवा चेतना

डॉ. सुनील कुमार मानस*

आधुनिक भारत में राष्ट्र, राष्ट्रवाद और युवा चेतना को लेकर एक विशेष प्रकार का चिंतन दिखाई देता है, जो भारतीय चेतना की सांस्कृतिकता से ओतप्रोत है। यह भारतीय जागरण की कलात्मक सृष्टि करने का भी एक प्रयास है। इस कलात्मक सृष्टि से भारतीय समाज में व्याप्त रूढ़ियों, कुरीतियों एवं बाह्याडम्बर से मुक्त होकर एक स्वाधीन समाज के गढ़ने, बनाने एवं उसके सँवारने के लिए विशेष प्रयास किये गये हैं। यह प्रयास राजा राममोहन राय से लेकर महात्मा गांधी, सुभाष, भगत सिंह, राममनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण आदि प्रसिद्ध युग चिंतकों में दिखाई पड़ता है, जो समय–समय पर विदेशी चिंतन को आत्मसात भी करता है और उसका प्रत्यावर्तन भी। कभी उसके रंग में रंगता है तो कभी अपने रंग में उस रंग को समाने की पूरी कोशिश भी करता है। ऐसे में राष्ट्रवाद की विचारधारा और युवा चेतना के विविध सोपान हम भारतीय चिंतनधारा में पाते हैं।

इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता कि आधुनिक भारत में राष्ट्रवाद और युवा चेतना हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और राजनीतिक परिवेश के चिंतन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू होकर उभरा है, जिसमें आज के समय में एक खास तरह की भावुकता की निर्मित भी दिखलाई पड़ती है और राष्ट्र तथा चेतना के नाम पर तमाम तरह के मनमाना काम भी किए जाते हैं, जिससे संवेदनात्मक चिंतन का धीरे–धीरे अभाव बढ़ता जा रहा है।

प्रस्तुत शीर्षक के तीन मूल शब्द हैं– राष्ट्र, युवा और चेतना। राष्ट्र से ही राष्ट्रवाद शब्द की निर्मित हुई है और इस राष्ट्रवाद ने जैसे–जैसे अपना विस्तार किया, राष्ट्र की संवेदना का दायरा संकुचित होता गया, क्योंकि 'वाद' स्वयं में एक संकुचित और जड़ हो जाने वाले शब्द या विचार का सूचक है, जो हमेशा मूढ़ हो जाने वाले शब्द और विचार की परिभाषा का समानार्थी भी है। हमें इस राष्ट्रवाद को समझने के लिए पहले राष्ट्र को समझना आवश्यक है। राष्ट्र शब्द की व्युत्पत्ति 'राज' धातु में 'ष्टन्' प्रत्यय के योग से हुई है, जिसका अर्थ सामान्यतः देश शब्द के पर्यायवाची होने से लिया जाता है, किंतु हमें यह जान लेना आवश्यक है कि राष्ट्र शब्द एक प्रजाति के जातीयबोधक रूप का पर्याय है, जिसमें उसकी संस्कृति, भाषा, संस्कार आदि के साथ समस्त प्रकार की आशा–आकांक्षा, सूझ–बूझ, सोच–विचार आदि भी समाहित होते हैं। महादेवी वर्मा ने 'राष्ट्र' की परिभाषा इस प्रकार दी है – "राष्ट्र केवल पर्वत, नदी, समतल का संघात नहीं होता, उसमें से भूमि खण्ड में निवास तथा विकास करने वाले मानव समूह का जीवन अविच्छिन्न रूप से जुड़ा रहता है।"[1] पं॰ दीनदयाल उपाध्याय जी ने भी लिखा है कि "राष्ट्र की सांस्कृतिक स्वतंत्रता तो अत्यन्त महत्त्व की है, क्योंकि संस्कृति ही राष्ट्र के सम्पूर्ण शरीर में प्राणों के समान संचार करती है।[2]

इसका अपना एक खास भौगोलिक खंड या संदर्भ भी होता है, जिसमें एक विशिष्ट प्रकार के सांस्कृतिक स्वरूप की झलक हम पाते हैं। इसी में उसका एक विशिष्ट प्रकार का सृजनात्मक और संदर्भात्मक रूप भी उपस्थित रहता है।

*** प्रधान–संपादक–आलोचन दृष्टि, एवं प्राध्यापक– हिन्दी, बहाउद्दीन आर्ट्स कालेज, जूनागढ़ (गुजरात)**

इस जातीय–व्यवस्था के साथ कई तरह की उपजातियां, उपभाषाएं, उपसंस्कृति और उपसंस्कार भी अपने क्षेत्रीयता और भौगोलिकता के आधार पर उल्लेखनीय महत्व रखते हैं। उदाहरण के लिए इसे हम भारत के संदर्भ में देखते हैं तो भारत एक भौगोलिक सीमा के साथ एक जातीय सूत्र में बंधा हुआ है, जिसके विषय में 'आलोचन दृष्टि' पत्रिका के प्रधान संपादक ने बहुत ही सटीक लिखा है– ''भारत केवल एक देश नहीं है, केवल एक उपमहाद्वीप नहीं है, केवल एक राष्ट्र नहीं है, केवल एकल विचार नहीं है, केवल एकल संस्कृति नहीं है और न ही केवल एकल परंपरा का प्रतीक है बल्कि वह मानवीय समाज की सबसे पुरानी एवं समृद्ध परंपरा का संवाहक है और समष्टि का परिचायक भी। इसमें जप है, तप है, योग है, ज्ञान है, साधना है, निरंतर ज्ञान के खोज के प्रयत्न भी हैं, जो हमेशा शाश्वत क्रम में बहते हुए पुनर्नवता की सृष्टि करते रहते हैं। इस तरह भारत ज्ञान–राशि की समृद्ध परंपरा का एक समुच्चय है जिसमें सत्य, दृढ़ता, पवित्रता, नैतिकता और आदर्श जैसे मूल्यों के अनुपालन से कोई मुक्त नहीं है। इसके अतिरिक्त भारत एक स्वप्न भी है, एक संकल्प भी है और एक आकांक्षा भी।''[3] जिसमें तमाम तरह की उपजातीय रंग, भाषाई रंग, सांस्कृतिक रंग और संस्कारिक रंग, इस जातीय संरचना के भौगोलिक संदर्भ हैं। जिसका एक वैज्ञानिक एवं सुव्यवस्थित रूप और स्वरूप जहां तहां हम देख सकते हैं। यही इस राष्ट्र की सांस्कृतिक विविधता है, जिसकी अनेकता में एकता के सूत्र आपस में घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए हैं।

इस तरह यह साफ हो जाता है कि किसी जाति या समुदाय के लोगों के लिए राष्ट्र उसकी अस्मिता का द्योतक है, जिसे हम उसकी आत्मा के रूप में भी परिभाषित करते रहते हैं। यह आत्मा उसकी सांस्कृतिक–वैचारिक परिस्थिति के अनुरूप निर्मित होती है, जिसके अपने अपने साक्ष्य भी हैं। प्रायः इसी के आधार पर हम राष्ट्र की पहचान उसके सांस्कृतिक परिवेश के अनुरूप ही करते हैं।

'राष्ट्रवाद' शब्द की निर्मित आधुनिकता के परिवेश में ही घटित होती है, जिसका संबंध किसी न किसी विशेष कार्यक्रम और परियोजना से जुड़ता है। ऐतिहासिक जानकारी के आधार पर यह स्वीकार किया जाता है कि राष्ट्रवाद का उदय 18वीं और 19वीं सदी के यूरोप में हुआ, और केवल दो–ढाई सौ वर्षों में ही यह विचार बेहद शक्तिशाली और टिकाऊ बन गया। राष्ट्रवाद के प्रतिपादक विद्वान जॉन गॉटफ्रेड हर्डर हैं, जिन्होंने 18वीं सदी में पहली बार इस शब्द का प्रयोग करके जर्मन राष्ट्रवाद की नींव डाली थी। उस समय सिद्धान्त दिया गया था कि 'राष्ट्र केवल समान भाषा, नस्ल, धर्म या क्षेत्र से बनता है।' और जब भी इस सिद्धांत के आधार पर समरूपता स्थापित करने की कोशिश हुई तो समाज में तनाव एवं उग्रता की स्थिति ही उत्पन्न हुई। इस तरह यह साफ हो जाता है कि राष्ट्रवाद जब सांस्कृतिक अवधारणा के आधार पर जबरदस्ती से लागू करवाया जाता है, तब यह 'अतिराष्ट्रवाद' या 'अन्धराष्ट्रवाद' बनकर उभरता है। इसके अपने मूल्य हैं, जो पूर्वी देशों की सांस्कृतिक मूल्यों के क्षरण का कारण भी बना। इस तरह यह कह सकते हैं कि राष्ट्रवाद का यह चरम मूल्य सांस्कृतिक विविधता के लिए संकट खड़ा कर देता है। हालांकि भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया ने इस राष्ट्रवाद को चुनौती भी दी है और एक अलग तरह के राष्ट्रवाद के रूप का भी उदय हुआ है। जिसके विषय में डॉक्टर रघुवंश ने जिक्र किया है कि ''एक ओर आर्थिक विकास की इन अतिरंजनाओं की भर्त्सना की जा रही है, साथ ही उसी से आशावान् भी हैं क्योंकि उनके पास कोई विकल्प नहीं।''[4] और ''यूरोप के औपनिवेशिक साम्राज्यवादी युग में यूरोप की राष्ट्रीय–राज्य–संस्थाओं ने व्यापार–उद्योगों के सहयोग से प्रायः सारे संसार पर यूरोप का वर्चस्व स्थापित कर दिया, आगे

आने वाले युग के लिए। अतः आज की समस्या भूमंडलीय है। स्मरण रखना है, किसी भी व्यवस्था के विशाल होते जाने की परिकल्पना यूरोपीय है। हर बात को तर्क–सिद्ध करने की अपूर्व क्षमता यूरोपीय मानस की है। समस्या अर्थ–संबंधित है, रोजी–रोजगार देने–दिलाने की है, अतः उत्पादन की। उत्पादन के विस्तार से ऐसे अवसरों का विस्तार होना है।''[5] इस तरह यह इसकी संगति भी है और विसंगति भी।

स्पष्ट है कि इस वाद के अंतर्गत राष्ट्र अपने को श्रेष्ठ मानने लगता है और आक्रांता होकर अपने को रचाता–बसाता है। राष्ट्रवाद की यह भावना प्रायः एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र का विरोधी भी बना देती है। यही इस शब्द का मूल निहितार्थ है। भारत में भी राष्ट्रवाद की यह मूल प्रवृत्ति एक साकार रूप ले रही है। निश्चित रूप से यह पश्चिम की धारणा का ही अनुकरण है। जिसके विषय में डॉक्टर रघुवंश लिखते हैं कि ''अनुभव से ही जाना समझा गया है, सृष्टि में पृथ्वी पर अनेक जीवधारियों के साथ मनुष्य का सह–अस्तित्व है और निश्चय ही प्रकृति का यह विधान हमारे अस्तित्व की सुरक्षा के लिए है।... आज पारिस्थितिकी के अध्ययन से यही माना गया और पश्चिम के विचारक इस प्राकृतिक व्यवस्था के असंतुलन से चिंतित है।.... वैज्ञानिक अनुसंधानों का सारा चमत्कार अर्थव्यवस्था के समृद्ध साधनों से संभव हो रहा है और उसका यह पूंजी–निवेश है, लाभ उठाने के लिए।... उनमें किसी को भी इस बात की चेतना नहीं है इन खोजों के उपयोग का मानवीय जीवन, प्राकृतिक जीवन, भौतिक जगत् पर प्रभाव किस प्रकार पड़ने वाला है।''[6]

इस तरह '''राष्ट्रवाद' की चिंतनधारा के दो पक्ष हैं। एक पक्ष उसकी आंतरिकता–पारस्परिकता का है तो दूसरा पक्ष उसकी बाह्य संपर्कशीलता का है। आज विश्व का राष्ट्रवाद अपने दूसरे पक्ष में ही अधिकाधिक सक्रिय है। आधुनिक राष्ट्रवाद में पश्चिमी मारक सभ्यता का प्रभुत्व है। वही उसका मूल आधार है।''[7]

दोनों का मूल अंतर भी समझ लेना आवश्यक है। पश्चिम का राष्ट्रवाद नितांत भोगवादी और भौतिकवादी है जबकि भारत का राष्ट्रवाद आध्यात्मिक के चिंतन पर बल देता रहा है। जिसकी आध्यात्मिक एक शक्ति है, एक पहचान है, एक अस्मिता है, एक जीवन–धर्म है, एक नैतिकता है, एक आदर्श है, एक परंपरा है, एक संस्कृति है और सर्व–प्राणी हिताय की भावना भी है, जो त्याग पर बल देती है।

महात्मा गांधी ने पश्चिम के इसी राष्ट्रवाद को चांडाल सभ्यता का नाम दिया था। उन्होंने कहा भी था कि यह सभ्यता दूसरों का नाश करने वाली और खुद भी नष्ट होने वाली सभ्यता है। गांधी प्रत्येक राष्ट्र को उसकी संस्कृति के अनुरूप परिभाषित करते हैं और इसमें न्याय और त्याग की भावना को ही श्रेष्ठ मानते थे। वे मानवीय समाज की स्थापना पर जोर देते थे। आदर्श और मर्यादा उनके वैचारिक चिंतन के केंद्र में रहती थी। यह भारत की संस्कृति का योगात्मक रूप है। किंतु जो पश्चिम की संस्कृति है वह योग की जगह भोग को, और आध्यात्मिकता की जगह भौतिकता को श्रेष्ठ मानती है या केवल इसी को महत्व देती है। उसका मानवीयता, दया, धर्म आदि से किसी प्रकार का लेना–देना नहीं है। इसी संस्कृति के कारण ही प्रत्येक राष्ट्र, दूसरे राष्ट्र को समाप्त करने का एक अभिशापित सपना पालता है और इस सपने को पूरा करने का हरसंभव प्रयास भी लगातार करता है। विकास के आपसी होड़ में सबको पीछे कर देने का लोभ बढ़ता ही जाता है। ऐसे में राष्ट्रवाद की इन बुनियादी समस्याओं को भारत के संदर्भ में देखने, सुनने और समझने की जरूरत है।

वर्तमान में भारत में हम दो तरह के राष्ट्रवाद को पनपते हुए देख रहे हैं। एक वह जो परंपरा की संस्कृति से निकला हुआ है जो उसी चिंतन को ही महत्वपूर्ण मानता है, और दूसरा वह है जो पश्चात्य की दौड़ में शामिल होकर आगे बढ़ने की होड़ में शामिल होकर रह गया है। पहला वाला राष्ट्रवाद संपूर्ण विश्व को अपनी पारंपरिक पहचान से अवगत कराता है जिसमें क्षमा, त्याग, बलिदान, उदारता, दयालुता आदि के विराट–दर्शन मिलते हैं जबकि दूसरे वाले में वर्तमान समय के विविध वैश्विक चिंतन का संदर्भ या प्रभाव विशेषतः दिखाई देता है। स्पष्ट रूप से, यह कहा जा सकता है कि जो राष्ट्रवाद भारत की पहचान कराने वाला है, वही मानवीय सरोकारों के लिए महत्त्वपूर्ण है, जबकि दूसरा भौतिकवादी दुनिया में वस्तुवादी बनते जाने वाले राष्ट्रवाद का अंग मात्र बनकर रह गया है।

दूसरी बात 'युवा' शब्द को लेकर है। इस शब्द की व्याख्या दो तरह से हो सकती है। एक 'युवा–भाव' के रूप में और दूसरी 'युवा–शक्ति' के रूप में। 'युवा–भाव' के चलते कोई भी व्यक्ति, उम्र चाहे जो भी हो, अपने वैचारिक चिंतन से एक दृष्टि प्रदान करता है और उसकी पहल भी करता है जबकि 'युवा–शक्ति' इसी दृष्टि के आधार पर कार्य निष्पन्नता की भूमिका निभाकर प्रगति करता है। इस तरह से 'युवा–भाव' प्रतिनिधि का कार्य करता है और 'युवा–शक्ति' उसे अपने परिश्रम से पूर्ण करके समृद्धि का।

तीसरी बात है 'चेतना' की है। चेतना एक वैचारिक प्रवाह है, जो धारा के साथ न चलकर, उसके विपरीत चलने की पहल करती है, क्योंकि धारा के साथ बहना तो वैचारिक मृत्यु का द्योतक होना है। इस तरह चेतना उत्थान का सूचक है अर्थात् आगे बढ़ने की पहल करने वाली। इसमें गर्व, गौरव एवं स्वाभिमान की अनुभूति होती है। जिस व्यक्ति या समाज में गर्व, गौरव और स्वाभिमान का अभाव है, वह व्यक्ति और समाज प्रायः चेतना शून्य ही माने जाते हैं। 'चेतना' का दूसरा अभिप्राय किसी भी व्यक्ति या समाज की उन्नति के लिए प्रतिबंध होने का भी सूचक है। यह उन्नति भाव, भाषा, संस्कृति, परंपरा की समृद्धि से जुड़ती है।

अब हमें इस विषय को उसकी संपूर्णता में देखना चाहिए– 'राष्ट्रवाद और युवा चेतना'। इसका भावार्थ कई तरह के अर्थ–ध्वनियों को लेकर अलग–अलग हो सकता है। जैसे राष्ट्रवाद की संकीर्णता में युवाओं की चेतना जागृत कर उसे राष्ट्रवादी स्वरूप की महत्ता प्रतिपादित करना, युवा शक्ति में राष्ट्रवाद की भावना को थोप देना या राष्ट्रवाद के नाम पर अन्य राष्ट्र की महिमा को कम करके आँकना, उसको अपने से हीन समझना आदि आदि, किंतु इसका जो मूल भावार्थ ध्वनित होता है, वह है, राष्ट्र के निर्माण में युवाओं की चेतनात्मक प्रतिबद्धता को समृद्ध करना। यही इसकी मूल अवधारणा भी है। इसी मूल–अवधारणा को राष्ट्र का प्रत्येक प्रबुद्ध नागरिक प्रश्रय देता है। पर, राष्ट्र में केवल प्रबुद्ध लोग ही नहीं होते हैं बल्कि कई बार ऐसे लोग भी शक्ति और सत्ता में स्थापित होते हैं जो युवाओं की शक्ति को केवल अपनी सत्ता की जड़ें जमाने में लगा देते हैं, उन्हें वैचारिक दृष्टि से विकलांग बनाकर अपने विचारों को ही उन पर आहूत करते हैं और इसी को राष्ट्रवाद का नाम दे देते हैं। राष्ट्रवाद जहाँ एक ओर अपनी उन्नति चाहता है, वहीं दूसरी ओर वह दूसरे राष्ट्र की अवनति भी। इसके चलते वैश्विक दुनिया का मानवीय रूप कुंद होने लगता है। भावार्थ यह है कि राष्ट्रवाद की भावना तभी तक दूसरे राष्ट्र के लिए भी हितकर है, जब तक दोनों में आपसी सौहार्द, भाईचारे की भावना और एक दूसरे के विकास में सहायक होने का भाव हो। पर ''आज का राष्ट्रवाद पूरी

तरह राजनीतिक हो गया है। ऐसा राष्ट्रवाद हमें भ्रष्टाचारी बनाता है। स्वार्थी और साधन का बिना ध्यान रखें संग्रही–मात्र नहीं बनाता, बल्कि अन्यों का अधिकार छीनकर अपने को अधिक बलप्रभुत्व से संपन्न करता है। ऐसा राष्ट्रवाद अर्थ केंद्रित हो जाता है। अर्थ को केंद्र में रखने के कारण संबंध और नाते–रिश्ते अपना आधार खो देते हैं। राष्ट्र केवल कागजी महत्त्व का बनकर रह जाता है। राष्ट्र की भौगोलिक सीमा में उस राष्ट्रीयता का मनुष्य होने के कारण जो पारस्परिक एकता होनी चाहिए, वह उसमें नहीं हो पाती।''[8]

आधुनिकता के उदय के साथ ही भारत में एक अभ्युदय–राष्ट्र–निर्माण की पहल होती है, जिसमें एक ओर भारतीय परंपरा में आ गयी रूढ़ियों से छुटकारा पाने और पाश्चात्य के भोगवादी या वस्तुवादी नजरिये से ऊपर उठकर सोचने, का रहा है। इस क्रम में मानवता के व्यापक धरातल की निर्मित के उद्देश्य से कार्य करने वाले भारतीयों में राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, केशवचंद्र सेन, स्वामी दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद, महात्मा गांधी, विद्यानिवास मिश्र आदि तमाम बुद्धिजीवियों का नाम लिया जा सकता है। इसमें भी दो प्रकार के क्रम देखे जा सकते हैं। पहला वह, जिसमें परंपरा की गहरी छाप हो, जो हमें मानवीय बनाने में विशेष सहायक भी है, जिसके अंतर्गत अपनी संस्कृति के प्रति निष्ठावान रहते हुए ही प्रगति की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा पाते हैं। दूसरा वह है, जिसमें परंपरा और संस्कृति के प्रति उतना महत्त्व नहीं दिया जाता, जितना कि सामाजिक उत्थान के मानवीय पक्ष का।

आज भारतीय चिंतन को दो भागों में बँटा हुआ देखते हैं– पहला, दक्षिणपंथी विचारधारा, और दूसरा, वामपंथी विचारधारा के रूप में। ये दोनों, अपने–अपने आग्रहों और विचारों के शिकार हैं। एक है, जो भारत के अतीत में ही सारे ज्ञान–विज्ञान की मौजूदगी तलाश करता है और जो दूसरा है, वह भारत की समस्त ज्ञानात्मक प्रक्रिया और सृजनात्मक स्वरूप की गौरवमयी परंपरा को ही हेय दृष्टि से देखता हैं। इसी के चलते वर्तमान की हमारी बौद्धिक प्रक्रिया एक–दूसरे को काटने–छाटने में ही सीमित होकर नेस्तनाबूत होती रहती है। यह एक प्रकार से ज्ञान की चेतनात्मक ऊर्जा का क्षरण ही है, जो राष्ट्र की वैचारिक प्रगति को कमजोर कर रही है। इसके विविध सोपान भी हैं। निश्चय ही, यह मानवता के सिद्धांत के लिए बाधक है। इस स्वरूप के आधार पर निश्चय ही हम वैचारिक चिंतन में कुछ पीछे हुए हैं। पर, वैश्विक चिंतन को ध्यान में रखते हुए, कुछ न कुछ इसी आधार पर चलना ही पड़ता है। युग और परिवेश से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा जा सकता। फिर भी हमें यह कहने में हिचक नहीं होना चाहिए कि इन दोनों विचारधाराओं को देखें, सुनें और समझें। इसके उपरांत इन्हें तर्क और विचार की कसौटी में कसें, फिर जो खरा उतरे, उसको अपनाएं, यही हमारी भारतीय संस्कृति के पहचान की द्योतक है और यही उसकी निजता भी।

हम सभी जानते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र के युवा ही भावी भविष्य के निर्माता होते हैं। उन्हीं के कंधों में देश और समाज के बदलने और संवारने की भी ताकत होती है। हम आज भी जब देश के विकास का सपना देखते हैं तो इन्हीं युवाओं के बल पर ही। यही हमारे कर्णधार भी होते हैं और बनते भी हैं, जिसका एक सुदीर्घ इतिहास भी हम हर एक राष्ट्र की प्रगति में देख सकते हैं। आधुनिक भारत के नवनिर्माण में इन्हीं युवाओं ने अपनी प्रतिबद्धता दिखलाई है जिससे एक ओर देश की रूढ़ और जड़ हो गई परंपरा में गतिशीलता आती रही है और दूसरी ओर हम अंग्रेजों की पराधीनता से मुक्त होने के लिए उन्मुख होते हैं। चाहे वे राजा राममोहन राय के स्वप्न के रूप में हो,

चाहे ईश्वर चंद्र विद्यासागर के सामाजिक सौहार्द के संदर्भ में हो, चाहे दयानंद सरस्वती जी के वैदिक चिंतन में हो, चाहे विवेकानंद के धार्मिक जागरण के संदर्भ में हो, चाहे गांधी के राजनीतिक जागरण और स्वप्निल भारत के नव निर्माण में हो, चाहे सुभाष और भगत सिंह के क्रांति में हो, चाहे अंबेडकर, बिनोवा भावे और जयप्रकाश नारायण के समाजिक मुक्ति के संदर्भ में हो, हम इस परंपरा की गतिशीलता को ही पाते हैं। सभी ने अपनी–अपनी दृष्टि, प्रतिभा और योगदान से इस देश को गौरवमयी बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। किसी के योगदान को सामाजिक संदर्भों में कमजोर करके नहीं देखा जा सकता और साथ ही इसके विकास में किसानों, मजदूरों और सैनिकों की महत्ता को कम नहीं आंका जा सकता बल्कि यह कहने में हिचक नहीं होना चाहिए कि इन्हीं के बल पर देश आज भी प्रगति कर रहा है।

आज भारत में युवाओं की संख्या सबसे अधिक है। इसलिए दुनिया की नजरें भारत की ओर लगी हुई है। सभी इस बात से विदित है कि भारत आने वाले समय में एक ऐसा देश बनेगा जो दुनिया में अपनी संमृद्धता का परचम लहराएगा। प्रगति का मानवीय पाठ पढ़ायेगा। ऐसा होने की हम कामना भी करते हैं, लेकिन हमें अपने गर्व, को गुमान में नहीं बदलना चाहिए, बल्कि अपनी परंपरागत संस्कृति के पालन में भी हमें गर्व की अनुभूति होनी चाहिए जितना की आर्थिक विकास के होने में, हम अनुभूति करते हैं।

एक बात यह भी महत्वपूर्ण है कि जो भारत वर्तमान में आर्थिक दृष्टि से विकास के सोपान तय कर रहा है। उसकी मूल संस्कृति पश्चिमी सभ्यता की देन है। आज के दौर में पूरा विश्व एक प्रकार से शैतानी सभ्यता से आच्छादित है। हम इसके बगैर राष्ट्र की समृद्धता का पैमाना ही तय नहीं कर सकते या कर पाते। ऐसे में युवाओं में इस अपसंस्कृति को आत्मसात करने के बाद भी निजी संस्कृति की सभ्यता, भाषा, परंपरा, मान्यता, सूझ–बूझ, रहन–सहन, वेशभूषा को भी गर्व और गौरव के साथ स्वीकार करने और उसे जीवन में अपनाने की पूरी कोशिश करनी चाहिए। अपनी सांस्कृतिक पहचान रखते हुए विश्व की प्रतिस्पर्धा में अग्रणी बनकर भी देश का नाम रोशन कर सकते हैं। यही हमारे राष्ट्रवाद की युवा चेतना का मूल–मंत्र होना चाहिए। यही हमारी पहचान है, यही हमारी परंपरा है और यही हमारी संस्कृति है। इसी में हम, हम हैं। इसी में हमारा राष्ट्र, राष्ट्र है और यही हमारे राष्ट्रवाद का सिद्धांत भी है।

संदर्भ–सूची :–

1. धर्मयुग, फरवरी, 1987, पृ॰ 9।
2. राष्ट्रजीवन की दिशा, लेखक– पं॰ दीनदयाल उपाध्याय, संपादक– रमाशंकर अग्निहोत्री एवं भानुप्रताप शुक्ल, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ, पृ॰ 33।
3. आलोचन दृष्टि, (भारत और भारतीयता पर केंद्रित विशेषांक) वर्ष : 04, अंक : 15, जुलाई सितंबर 2019, संपादकीय पृष्ठ से।
4. पश्चिमी भौतिक संस्कृति का उत्थान और पतन (विकल्प मानव संस्कृत का नया प्रयोग) संयोजक और समन्वयक : डॉ. रघुवंश, लोक भारती प्रकाशन, संस्करण 2004 पृ. संख्या – 545।
5. वही।
6. पश्चिमी भौतिक संस्कृति का उत्थान और पतन, संख्या – 565।
7. संस्कृति की सत्ता, संपादक : डॉ. दयानिधि मिश्र, प्रतिभा प्रतिष्ठान प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2020 पृ. संख्या 142
8. वही, पृ. संख्या 145।

भारतीय साहित्य में सूत्र-शैली की समृद्ध परम्परा और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

डॉ. सच्चिदानन्द देव पाण्डेय *

संक्षिप्तता बुद्धिमत्ता की आत्मा है। संक्षेप अथवा सूत्र–रूप में कथन के लिए गूढ़, अर्थ–गर्भ शब्दों के ज्ञान के साथ–साथ सामासिक पदों की रचना की निपुणता और उनके सधे हुए औचित्य पूर्ण प्रयोग करने की विशिष्ट प्रतिभा होनी आवश्यक है। इसलिए बहुश्रुत और बहुत–अधीत पंडितों (विद्वानों) की वाणी संक्षिप्त और सारगर्भित होती है। प्राकृतिक प्रतिभा सम्पन्न महापुरुषों व साहित्यकारों की रचनाओं में भी बहुधा ऐसे वाक्य मिल जाते हैं, जो सूत्र रूप में होते हैं किन्तु जिनके संक्षिप्त पद–गुच्छों के भीतर 'विशद अर्थ' सेमल, कपास अथवा मन्दार के लघु आकार वाले सम्पुटित कवचधारी फलों के भीतर, तहों में सिमटी रूई की भाँति बन्द रहते हैं और सम्पुट खोलते ही विस्तृत होकर आयतन बढ़ाकर फैल जाते हैं तथा मन को प्रकृति की कारीगरी से विस्मय विमुग्ध कर देते हैं। सूत्र का अर्थ है–धागा। जैसे धागे का एक छोर पकड़ में आने पर बुने हुए स्वेटर को बड़ी आसानी से उधेड़ा जा सकता है, वैसे ही एक सूत्र वाक्य के छोर को पकड़ कर बहुत बड़े अर्थ की आद्योपान्त व्याख्या भी की जा सकती है तथा इसके विपरीत बहुत बड़े विचार समूह को एक पद–समूह में एकत्र या पुँजीभूत भी किया जा सकता है। यह बीज–कथन होता है, जिसके भीतर एक वृक्ष की विशाल आकृति समायी है, जो दिखायी तो नहीं देती परन्तु बीज के बोने पर धीरे–धीरे विकसित होकर प्रत्यक्ष हो जाती है। यह सूत्र–कथन की शैली भारतीय साहित्य में अत्यंत प्राचीन काल से ही विद्यमान रही है। आदि कवि ने भी सम्भवतः अपनी पूर्व परम्परा से ही इसे प्राप्त किया होगा।

आदिकालीन मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होने के नाते सर्वप्रथम विचाराभिव्यक्ति दो रूपों में ही करता था– गद्य और पद्य। गद्य सीधा, अनलंकृत भाषा और विस्तार युक्त होता है, जबकि पद्य संक्षिप्त अलंकृत और रसात्मक वाक्यों से निर्मित होता है। पद्य की पंक्ति, गद्य की पंक्ति की अपेक्षा लघुतर अथवा लघुतम आकृति वाली होती है। सम्भवतः गद्य की दीर्घ वाक्यावली, क्रियापदों के यत्र–तत्र विन्यास आदि से बचने के लिए, मुख–सुख अथवा वचन–वक्रता से लालित्य पैदा करने के लिए आदि कवियों ने पद्य रूप का प्रारम्भ किया होगा। उन्हें गद्य की लम्बी, दीर्घकालिक उच्चारण वाली वाक्यावली की अपेक्षा पद्य की लघु, संक्षिप्त, सुन्दर, अर्थ–गर्भ, कौतूहलवर्धक, प्रवाहमयी एवं गेयता की विशिष्टता से युक्त पंक्तियाँ कहीं अधिक आकर्षक कर्णप्रिय एवं प्रभावी प्रतीत हुई होंगी। अतः ये कहना कि पद्य का प्रारम्भ गद्य की सपाट बयानी से बचकर किंचित नवीन उद्भावना के लिए ही हुआ और पद्य कथन ही सूत्र–कथन का जन्मदाता भी है, अत्युक्ति न होगी।

जब प्राचीन भारतीय वाङ्गमय अलिखित रूप में था तब उसे श्रुति–स्मृति परम्परा के द्वारा संरक्षित किया जाता रहा। गुरु–मुख से सुनकर पुनः–पुनः आवृत्ति करके शिष्य पठित विद्या को अपनी स्मृति में स्थायी कर लेते थे। ''श्रवण कर गुरु परम्परा से अधीन होने के कारण मन्त्र ही श्रुति है।

पूर्व शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

इन्हीं को मन्त्र (ऋचा) भी कहते हैं। मन्त्रों का समुच्चय ही सूक्त है तथा सूक्तों का समुच्चय संहिता है।''[1]

विशाल वैदिक साहित्य का अध्ययन विद्यार्थीगण गुरुकुल में अनेक वर्षों के कठिन परिश्रम के पश्वात् पूरा कर पाते थे। तब भी किसी एक–एक ही वेदांग (विधा) में पारंगत हो पाते थे। सांगोपांग चतुर्वेदों का अध्ययन करने में कोई–कोई आधी से अधिक आयु भी व्यतीत कर देते थे। ये विद्वान अपने ज्ञानोपदेश अथवा विचारों के आदान–प्रदान के लिए दैनिक क्रिया–व्यापारों में सूक्ति के रूप में पद्यांशों या ऋचाओं के एकाध सर्वाधिक परिचित चरण को प्रयोग करते हुए अपने अभिप्राय को स्पष्ट करते रहे होंगे। किसी दीर्घ अवतरण या व्याख्या के अभिप्राय या सारांश को एक सूक्ति वाक्य के रूप में इंगित करने की जो प्रवृत्ति या आवश्यकता उपदेशकों या शास्त्रार्थियों में बढ़ती गयी, इसी से परवर्ती काल में सूत्र–ग्रन्थों के लेखन की नींव पड़ी। सम्भवतः वाचिक परम्परा के कारण ही दीर्घकाय वाक्यों को लघु संकेतात्मक रूप में कहने और याद रखने की आवश्यकता को देखकर ही विद्वानों और मनीषी वैयाकरणों ने अपने विचारों एवं सिद्धान्तों को सूत्र रूप में कथन की एक नवीन तकनीकी (प्रणाली) के रुप में विकसित की।

वेद भारतीय सभ्यता के आदि ग्रंथ और ऐतिहासिक दस्तावेज हैं। सभ्यता के विकास के बीज परम्परा के भीतर ही सुरक्षित होते हैं। इसलिए किसी भी प्रवृत्ति परम्परा अथवा विज्ञान की जड़ वेदों में ढूँढ़ना रूढ़िवादिता, थोथी हठधर्मिता या पूर्वाग्रह नहीं बल्कि सूक्ष्मदर्शिता की निशानी है। आदि मानव द्वारा पहिए का आविष्कार ही अत्याधुनिक ट्रेनों व हवाई जहाजों के विकास की नींव बना। जब मानव ने अपने पैरों के अलावा अन्य साधनों की सहायता से गतिपूर्वक स्थानान्तरण का उपाय ढूँढ़ लिया था, उसी दिन से आधुनिक तीव्रगामी वाहनों के विकास का बीजारोपण कर दिया। आधुनिक सुपर कम्प्यूटर के विकास सूत्र जोड़–घटाव के लिए बनाये गये प्राचीन कैलकुलेटर से ही जुड़े हुए हैं। अतः भारतीय साहित्य की अधुनातन विधा के बीज भी वेदों में ढूँढे जा सकते हैं।

विश्व साहित्य की सर्व प्राचीन रचना ऋग्वेद स्वयं में सर्वोत्तम कथनों, श्रेष्ठ विचारों का एक चयनित गुलदस्ता है, जो अपने पूर्व की एक ऐसी सभ्यता की ओर ध्यान खींचता है जो प्रागैतिहासिक कही जाती है। किन्तु वह सभ्यता मानव जीवन की शाश्वत कहानी का अनादि छोर है। अनन्त काल के इतिहास को समेट कर रखना मानव के बूते की बात नहीं है। फिर भी मनुष्य ने अपनी विलक्षण प्रज्ञाशक्ति के बल पर जितने काल तक का अतीत का इतिहास जुटा लिया है वहीं उसकी पहुँच एवं दृष्टि की सीमा है। किन्तु इससे यह भी नहीं कहा जा सकता कि इसके पहले जीवन ही नहीं था, कोई कहानी नहीं हो सकती अथवा इतिहास नहीं हो सकता। 'प्रागैतिहास' शब्द कुछ नहीं बोलता, बस अपने पूर्व या अतीत की ओर संकेत करके मौन हो जाता है।

ऋग्वेद उसी प्रागैतिहासिक भरी–पूरी, समृद्ध एवं विकसित चेतना वाली संस्कृति के कुछ श्रेष्ठ या प्रतिनिधि सूचनाओं का साहित्यिक संकलन है। ध्यान दें तो पायेंगे कि ऋग्वेद के सभी दस मण्डल अलग–अलग ऋषियों के उत्तम वचनों (सूक्तों) के संचयन हैं। ये ऋषि सम्भवतः अपने काल के श्रेष्ठ कवि या साहित्यकार रहे होंगे। ''जिनमें द्वितीय मण्डल के ऋषि गृत्समद, तृतीय के विश्वामित्र, चतुर्थ के वामदेव, पंचम के अत्रि, षष्ठ के भारद्वाज और सप्तम के ऋषि वशिष्ठ हैं। नवम् मण्डल के ऋषि इन्हीं ऋषियों में से एक है। प्रथम और अष्टम मण्डल समकालीन प्रतीत होता है, दशम मण्डल सर्वाधिक अर्वाचीन है।''[2]

इनके अतिरिक्त अनेक सूक्त बालखिल्य ऋषि के नाम से भी मिलते हैं। सूक्त का अर्थ है– सुभाषित या उत्तम वचन। अर्थात् जिन मन्त्रों में उत्तम वचन होते हैं उनके समूह को सूक्त कहा गया है। ऋचाओं या मन्त्रों की छोटी–छोटी पंक्तियों में गूढ़ अर्थ भरे हुए हैं जिनकी व्याख्या से ऐतिहासिक, धार्मिक एवं वैज्ञानिक तथ्यों की अनेक गुप्त जानकारी प्राप्त होती है। लेखन की सूत्र एवं समास शैली के प्रारम्भिक किन्तु प्रौढ़, सुन्दर उदाहरण वेद मन्त्र हैं। विश्व प्रसिद्ध परम् तेजस्वी गायत्री मंत्र ऋग्वेद में ही प्राप्त होता है।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।।[3]

यही सावित्री या गायत्री मन्त्र है। इसे वेद जननी भी कहा गया है। हिन्दू धर्म परम्परा में प्राप्त यह सर्वोच्च प्रार्थना है। इसकी विशद व्याख्या से शास्त्र पुराण पटे पड़े हैं। क्या है,ऐसा, इन लघु पंक्तियों में? गायत्री के परम उपासक वेदमूर्ति तपस्वी पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य ने शांति कुंज, हरिद्वार से 'गायत्री महाविज्ञान' नामक पुस्तक कई खण्डों में प्रकाशित करायी है, जिसमें इस मंत्र का बहुत व्यापक माहात्म्य और साधना–विधान वर्णित है। इस मन्त्र का अर्थ है– ''हम सर्व प्रेरक सविता देवता के उस पूजनीय प्रसिद्ध तेज को धारण करें जो हमारी बुद्धियों को उदय की ओर प्रेरित करें।'' वैदिक भाषा के प्रकृष्ट विद्वान डॉ० कृष्णलाल के अनुसार– ''बुद्धि के लिए उपनयन संस्कार में यह सर्वोत्कृष्ट प्रार्थना है। इसके अतिरिक्त परम्परा की दृष्टि से भी यह बहुत महत्वपूर्ण है। सभी हिन्दू सम्प्रदायों की यह मुख्य प्रार्थना है। इतना कहना पर्याप्त होगा कि अन्य किसी मन्त्रादि का उच्चारण न करके केवल इसका उच्चारण भी स्वतः सम्पूर्ण प्रार्थना मानी जाती है। इसके अनुकरण पर अन्य सम्प्रदायों में भी मन्त्र रचना की गई है। उदाहरणार्थ, भैरवी की गायत्री देखिए–

त्रिपुरायै विद्महे भैरव्यै धीमहि। तन्नो देवी प्रचोदयात्।।[4]

वेदों में ऐसे ही अनेक मन्त्र मिलते हैं, जिनके भीतर लघु वाक्यों में महान अर्थ छिपा हुआ है। जिनके अनुशीलन से धार्मिक और भौतिक दोनों ही प्रकार के लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं। ज्ञान राशि के इस संचित कोश ''ऋग्वेद में देवस्तुति के साथ ही ब्रह्मविद्या, धार्मिक विचार व्यवहार एवं मान्यताओं के उद्घाटन भी प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक दशाओं पर भी पर्याप्त प्रकाश ऋग्वेद के अध्ययन से पड़ता है। ऋग्वेद में सृष्टि रचना, दार्शनिक विचार, वैवाहिक रीति–रिवाज, पशु–पक्षी आदि से सम्बद्ध कुछ मन्त्र भी मिलते हैं तथा कुछ सम्वाद सूक्त भी उपलब्ध होते हैं।''[5]

आज के वर्तमान युग की समस्त चिन्तन धाराओं, साहित्य, समाज धर्म, राजनीति, अध्यात्म, विज्ञान एवं कला आदि के बीज भारतीय साहित्य के ऋग्वैदिक काल से ही ढूँढे जा सकते हैं। वेदों में जो कुछ है, वह अपनी तत्कालीन सभ्यता एवं संस्कृति का विस्तार नहीं, संक्षेपण ही है। सूत्र शैली का साहित्य में प्रयोग इसी समय से खूब मिलने लगता है।

सबसे पहले वेद के भाष्यकारों ने वेद की समग्र लक्षणों से युक्त परिभाषा करने की प्रवृत्ति ही दिखाई है। अतः वैदिक ग्रन्थों में जगह–जगह वेद की परिभाषाएँ मिलती है। महर्षि कात्यायन ने अपने प्रतिज्ञा–परिशिष्ट–सूत्र में तथा आचार्य आपस्तम्ब ने अपने परिभाषाध्याय में वेद का अभिप्राय 'मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदनाम धेयम्' बताया है। सायण ने यजुर्वेद भाष्य भूमिका में कहा है–

प्रत्येक्षणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एवं विन्दन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता।।

(अर्थात् प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणों से जिस अलौकिक उपाय का बोध नहीं हो पाता है, उस अलौकिक उपाय को जानने का एकमात्र साधन वेद ही है और यही वेद का वेदत्व भी है।) ये छोटे–छोटे पद्य खण्ड, इनमें आये हुए पद बड़ी–बड़ी व्याख्या के विषय हैं। सार–संक्षेप में अभिव्यक्त कर बड़े अर्थ को बाँधना भी कवित्व की विशेषता है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त के प्रथम मंत्र में अग्नि की स्तुति करते हुए उसे 'रत्नधातमम्' कहा गया है। 'रत्नधातमम्' का अर्थ रत्नदाता या रत्न धारण कर्ता है–

अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।।[6]

अर्थात् यज्ञ के पुरोहित, प्रकाश युक्त (या दान आदि गुणों से युक्त), देवताओं को यज्ञ में बुलाने वाले ऋत्विक तथा रत्नों के सर्वाधिक दाता (या धारणकर्ता) अग्नि देवता की मैं स्तुति करता हूँ। जिस प्रकार राजा का पुरोहित हित के समस्त उपाय करता हुआ राजा के समस्त कार्य का सम्पादन करता है। वैसे ही अग्नि स्वयं उपस्थित होकर यज्ञ की पूर्ति और रक्षा भार संभालते हैं। अग्नि के साक्ष्य में ही सभी देवकर्मों का अनुष्ठान होता है। अतः वे देवताओं का आवाहन करने वाले ऋत्विक 'होता' हैं। अग्नि की शिखा सर्वदा उर्ध्वमुखी होती है, सम्भवतः इसीलिए लोक में उन्हें देवताओं के पास हवि पहुँचाने वाला और देवताओं से यज्ञ–फल को यजमान तक लाने वाला मानते हैं। राजा दशरथ की पुत्रेष्टि यज्ञ में पायस (खीर) का पात्र लेकर अग्नि ही प्रकट होते हैं। राजा द्रुपद के पुत्रेष्टि में धृष्टद्युम्न और द्रौपदी अग्निकुण्ड में से प्रकट हुए थे। द्रौपदी का इसीलिए नाम याज्ञसेनी या अग्निसंभवा भी जाना जाता है।

अग्नि में डालकर रत्न–धातुओं को गलाकर या तपाकर शुद्ध करने की परम्परा अति प्राचीन है। मानों अपनी लपटों के भीतर पहले से धारण किये हुए रत्नों से तुलना करके उनकी अशुद्धियों को दूर कर अग्निदेव तपाये हुए रत्न–धातुओं को खरा व शुद्ध कर देते हैं। स्वर्ण अग्नि में प्रवेश कर फिर शुद्ध होकर निकलता है। शायद सीता जैसी नारीरत्न को छिपाने के लिए सबसे उपयुक्त आश्रय अग्नि ही है, अतः राम ने सीता को अग्नि वास करने के लिए कहा था–

तुम्ह पावक महुँ करहुँ निवासा। जब लगि करउँ निशाचर नासा।।[7]

रावण संहार और लंका विजय के दीर्घ अन्तराल के बाद पुनः सीता को अग्नि–परीक्षा के बहाने अग्नि के भीतर से बाहर निकालने का यत्न करते हैं–

श्रीखंड सम पावक प्रवेश कियो सुमिरि प्रभु मैथिली।
जय कोसलेस महेस वंदित चरन रति अति निर्मली।।
प्रतिबिम्ब अरू लौकिक कलंक प्रचंड पावक महुँ जरे।
प्रभु चरित काहुँ न लखे नभ सुर सिद्ध मुनि देखत खरे।।[8]

अतः अग्नि का 'रत्न धातमम्' पद कितने बड़े व्यंजना के भीतर सुरक्षित है। ऐसे व्यंजक शब्द ही सूत्र–वाक्य के प्राण होते हैं। ऐसी ही बड़ी–बड़ी व्याख्याओं वाले सूक्ष्म मन्त्र संहिताओं में भरे पड़े है जिनका उपयोग विद्वज्जन वार्ताओं में सूक्ति के रूप में आप्त–प्रमाण बनाकर किया करते हैं। मनुष्य के अन्तःकरण में सब प्रकार के संकल्प–विकल्प को उत्पन्न करने वाला मन होता है। समस्त इन्द्रियों को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाला, भूत, भविष्य, वर्तमान में तीव्र गति से गमन करने वाला मन सकल अनर्थों की जड़ है। इसके शिव–संकल्प युक्त होने में ही जगत का कल्याण है–

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयते भीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदि्जरं जविष्ठं तन्मे मनरू शिव संकल्पमस्तु।।[9]

सुसारथि की भाँति इन्द्रियों रूपी अश्वों को, महान क्षमता एवं ओजस्विता से युक्त यह मन तेज दौड़ाता रहता है। हृदय में स्थित इस अजर (कभी वृद्ध न होने वाले) तत्व को सुन्दर कल्याणकारी संकल्पों से युक्त होने की प्रार्थना की गई है।

यह तो सूत्र वाक्य है। मन की गति का परिणाम और शुभ–अशुभ संकल्पों की ओर उसका संधान बड़ी व्याख्या का विषय है। ऐसे ही सूत्र वाक्यों के जरिये अध्यात्मवादी अपने दार्शनिक व्याख्याओं को दृढ़ आधार प्रदान करते हैं। इस काल के सूत्रों में जटिलताएँ कम हैं, प्रायः प्राकृतिक भावनाओं का बाहुल्य है। परवर्तीकाल की वाक्य रचना एवं सूत्र भंगिमा किंचित जटिल होती गयी है। जीवनशैली की संश्लिष्टता एवं जटिलता का प्रभाव आगे के साहित्य में परिलक्षित होता है।

वेदों के मन्त्र तीन रूपों में प्राप्त होते हैं– छन्द, गीति एवं गद्य। जिनका लक्षण जैमिनी ने अपने सूत्र ग्रन्थ में विस्तार से विवेचन किया है। ''तेषामृग् यत्रार्थवशेन पाद व्यवस्था (जै०सू० २–१–३४) अर्थात् जिन मंत्रों में अर्थवशात् पादों की व्यवस्था होती है, उन छन्दोबद्ध मन्त्रों को ऋक् या ऋचा कहा जाता है। 'गीतिषु सामाख्या' (जै०सू० २–१–३६) अर्थात् इन ऋचाओं पर जो गायन गाये जाते हैं, उन गीति रूप मन्त्रों को साम कहते हैं। 'शेषे यजुः' (जै० सू– २–१–३६) इन ऋचाओं और सामों के अतिरिक्त मन्त्रों को यजुष् कहा गया है। 'गद्यात्मको यजुः' के अनुसार यजुष् गद्यात्मक होते हैं। इस प्रकार मन्त्रों की रचना तीन विधाओं में हुई है– ऋक यजुष और सामन्। इन्हीं के आधार पर वेद को ऋक् यजु, साम इन तीन भागों में विभक्त किया गया है। ऋग्वेद ऋचात्मक, सामवेद सामात्मक (गेयात्मक) और यजुर्वेद यजुषात्मक (गद्यात्मक) है।''[10]. संहिता काल तक की वेद त्रयी (ऋक्, यजु, साम) की सभी सूक्तियाँ स्वयंभू (आप्त वचन) मानी जाती रही हैं। ये किसी व्यक्ति के द्वारा रचित नहीं है। ऋषियों ने इन्हें देखा है, लिखा नहीं है। अतः इनका स्वरूप कालान्तर में प्रचलित सूत्र–रूपों से भिन्न है। वेद के चार विभागों (संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद) में उपनिषद् अन्त में गिना जाता है। उपनिषदों में निरुपित आत्म–परमात्मा विषयक वार्ताएँ अद्वैत दर्शन, परवर्ती गीता आदि महान ग्रन्थों एवं षट्दर्शनों का उपजीव्य बनी है। वेदान्त का विषय है– ''जीव ब्रह्मैक्यं शुद्ध चैतन्यम् प्रमेयं तत् एवं वेदान्तानाम् तात्पर्यात।।'' (अर्थात् इस वेदान्त सार का विषय जीव और ब्रह्म का एक होना सर्वज्ञत्व और अत्पज्ञत्व), विरूद्ध धर्मों से विमुक्त शुद्ध चैतन्य का ज्ञान है, वही वेदान्त वाक्यों का लक्ष्य है। तितिक्षा को परिभाषित करते हुए हुए एक जगह कहा गया है– तितिक्षाशीतोष्णादि द्वन्द्व सहिष्णुता।।''[11]. अर्थात् सर्दी गर्मी आदि द्वन्द्वों को सहना तितिक्षा है। गीता में भी कहा गया है।[12]

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेयशीतोष्ण सुख दुःखदा।
आगमापायिनो नित्यं तां तितिक्षस्व भारत।।[13]

वैदिक सूक्तों की अपेक्षा परवर्ती ब्रह्मसूत्रों की भाषा अधिक सूत्रात्मक है। उपनिषदों के अद्वैत तत्व, ब्रह्मज्ञान की सूत्र परम्परा आगे भी चलती है। कठोपनिषद् की प्रथम अध्याय की द्वितीय एवं तृतीय वल्ली के कतिपय श्लोक गीता में भी कुछ शब्दों के परिवर्तन से ज्यों के त्यों प्राप्त होते हैं। इसीलिए गीता को उपनिषदों रूपी गायों का दुग्ध कहा गया है।

वैदिक तत्वों के गूढ़ हो जाने के कारण अगले समय में वेद के अर्थों तथा विषयों को स्पष्ट करने के लिए वेदांग साहित्य का विकास हुआ। भाषा में परिवर्तन भी हो रहा था। वैदिक संस्कृत से लौकिक संस्कृत का चलन होने की भी बारी आ चुकी थी। यूँ तो सूत्र रूप में विचाराभिव्यक्ति की

प्रवृत्ति मानव में प्रारम्भ से रही है किन्तु वैदिक साहित्य के पश्चात् एक ऐसा भी काल विशेष आया, जब विशुद्ध सूत्र ग्रन्थों का ही प्रणयन हुआ। उसे सूत्र काल के नाम से ही जाना जाता है। इसी काल में वेदांग जैसे गूढ़ विषयों के प्रतिपादन के लिए सूत्रशैली में विधिवत् ग्रन्थों की रचना हुई। सूत्र सिद्धान्तों को एक नवीन रूप दिया गया। कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ का प्रतिपादन करने वाले छोटे–छोटे वाक्यों में सब महत्वपूर्ण विधि विधान प्रकट किए जाने लगे। इन सारगर्भित वाक्यों के द्वारा वैदिक कर्मकाण्ड एवं यज्ञ–यागादि पर प्रकाश डाला गया है। इस सम्पूर्ण सूत्र–साहित्य पर वेदों के कर्मकाण्ड के विषय का ही आधिपत्य रहा। सूत्र–साहित्य को अब वेदांग की संज्ञा से अभिहित किया गया। ये वेदांग संख्या की दृष्टि से छः हैं– शिक्षा छन्द, व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त कल्प। इन वेदांगों को वेदों से सम्बद्ध करने के लिए व्याकरण को वेद का मुख कहा गया, ज्योतिष को नेत्र, निरुक्त को कान, कल्प को हाथ, शिक्षा को घ्राण (नासिका) तथा छन्द को पाद कहा गया है–

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्र मुच्यते।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।[14]

सूत्र वाक्य की अब तक की यात्रा केवल कथ्य की ही रही। रूप वहीं रहा कथ्य बदलते रहे। छोटे–छोटे सूत्रों द्वारा व्याकरण के गूढ़ विषय को कैसे समाविष्ट किया गया है इसका एक उदाहरण सिद्धान्त कौमुदी का यह सूत्र देखिए– ''कर्तुरीप्सिततमं कर्म।''[15](१.४.४६) (अर्थात् कर्ता अपनी क्रिया द्वारा जिसे विशेष रूप से प्राप्त करना चाहता है, उस कारक की कर्म संज्ञा होती है।) सूत्र शैली की विशुद्ध बानगी ऐसे ही सूत्र है। वरदराज की 'मध्य सिद्धान्त कौमुदी' में उद्धृत पाणिनी का यह बहुचर्चित सूत्र– 'श्वन् युवमघोनाम तद्धिते।''[16](६/४/१३३।) जो कि श्वन् (कुत्ता) युवन् (युवक) और मधवन् (इन्द्र) को एक सूत्र में पिरोये जाने से विशेष ख्यात हुआ, वैयाकरणों की विशिष्ट सूत्र प्रतिभा का अद्भुत प्रमाण है। प्रतिभा का यह चमत्कार, सत्य, शिव एवं सौन्दर्य का अनूठा मेल, भारतीय संस्कृत साहित्य की अद्भुत विशिष्टता है जो अन्यत्र दुर्लभ है। महर्षि पतंजलि द्वारा योग दर्शन में दी गयी योग की परिभाषा 'योगश्चितिवृत्ति निरोधः' आज भी योगियों और योग पुस्तकों का उपजीव्य बनी है। उन्हीं की बतायी गयी प्राणायाम की परिभाषा– ''तस्मिन् सति श्वास प्रश्वासयोर्गति विच्छेदरू प्राणायामः।''[17] (श्वास और प्रश्वास के मध्य बिंदु पर उनकी गति का विच्छेद करना प्राणायाम है।) गणित की कारिकाओं की तरह है। योग एक गूढ़ विज्ञान है। महर्षि पतंजलि के पश्चात् योग की समृद्ध परम्परा चली है। हठ योगियों सिद्धों नाथों से लेकर कबीर तक योग की गूढ़ क्रियाओं के प्रतीकात्मक पद्य लिखे जाते रहे। कहने का तात्पर्य है कि सूत्र शैली का चरम उत्कर्ष वेदांगों एवं षट् दर्शनों (सांख्य, योग, न्याय, मीमांसा, वेदान्त, वैशेषिक) में ही दिखायी देती है। वैदिक साहित्य में जो प्रवृत्ति बीज रूप में थी, इन ग्रन्थों में उसका विकास हुआ है। ''किसी धार्मिक सम्प्रदाय विशेष का सूत्र साहित्य 'कल्प' संज्ञा से अभिहित किया जाता है– कल्पोवेद विहिताना कर्मणानुपूर्वेण कल्पना शास्त्रम्।। कल्प सूत्रों के चार विभाग हैं– श्रौतसूत्र, गृह्य सूत्र, धर्मसूत्र तथा शुल्व सूत्र। कल्प ग्रन्थों में कर्मकाण्ड, आश्रम व्यवस्था यज्ञ–हवन, आचार संहिता संस्कार आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन है।

वेदांग–सूत्र के बाद स्मृतियों का काल आता है। इनमें वर्णाश्रम–धर्म, व्रत–उपवास, आचार–संहिता, यम–नियम, पाप–पुण्य–प्रायश्चित्त की बातें बताई गई हैं। इसी से सम्बन्धित सूत्र तथा सूक्तियाँ इनमें मिलती है।

रामायण एवं महाभारत दोनों भारत वर्ष के प्राचीन पौराणिक काव्य ग्रन्थ है जिनका देश के जातीय जीवन पर, जनता के धार्मिक तथा भौतिक विचारों पर तथा साहित्य के विभिन्न अंगों पर अपरिमित प्रभाव है। आज तक आदि कवि का प्रथम छंद–– ''मा निषाद् प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समा।''[18]. साहित्यकारों की जिह्वा पर बीज मंत्र की भाँति फिरता है। रामायण में नारी जीवन पर कही गयी यह उक्ति एक सुभाषित या सूक्ति के रूप में दोहरायी जाती है–

न पिता नात्मजो वात्मा न माता न सखी जन।
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गति सदा।।[19]

महाभारत, नीति, धर्म, आचार–विचार के दैनंदिन जीवन के व्यापारों में उपयोगी सूक्तियों का भण्डार है। इसे पंचम वेद भी कहते हैं। इसके छन्दों के अर्थ भी मन्त्रों की भाँति गूढ़ अर्थों वाले हैं। बहुश्रुत और बहुअधीत होकर मनन पूर्वक ही इसके वास्तविक तात्पर्य को समझा जा सकता है। महाभारत के विषय में कहा जाता है– 'यन्न भारते तन्नभारते।' जो महाभारत में नहीं वह भारत में नहीं। यह कह दें कि भूमण्डल पर नहीं तो अत्युक्ति न होगी। महाभारत में जीवन विज्ञान, आयु विज्ञान, विमान शास्त्र और धनुर्वेद विज्ञान का यत्र–तत्र वर्णन मिलता है। वह भारतीय विज्ञान की अनुपम प्रगति का विवरण प्रस्तुत करता है। वन पर्व में कहा गया है कि इन्द्र का रथ १०००० अश्वों से युक्त था–

शतं शतास्ते हरयस्तस्मिन युक्ता महारथे।
शान्ता मातलिना यत्ता व्यचरन्नल्पकाइव।।[20]

अर्थात् इन्द्र के रथ में दस हजार घोड़े जुड़े थे। यह अव्यावहारिक लगता है। किन्तु अश्व शक्ति के अर्थ में लें तो एकदम ठीक बैठता है। इन्द्र का विमान १०००० हार्स पावर की इंजन से चालित वायुयान था। यदि संस्कृत के वैदिक काल से लेकर महाभारत कालीन ग्रन्थों का आलोड़न–विलोड़न किया जाय तो सूत्र वाक्यों के गूढ़ पदों के अर्थ खोलकर लुप्त हो चुकी विमान शास्त्र एवं धनुर्विद्या को पुनः प्राप्त किया जा सकता है। भरद्वाज ऋषि के वृहद्विमानशास्त्र में विमानों के निर्माण की विधियाँ दी हुई हैं किन्तु दुख की बात है कि उन्हें समझना संभव नहीं दिख रहा। इस तरफ भारतीय वैज्ञानिकों का ध्यान भी नहीं है।

महाभारत काल के पश्चात् ज्ञान–विज्ञान का युग ढल गया। युद्ध नरसंहार की महाविनाशकारी लीला के उपरान्त विज्ञान व विधाएँ लुप्त हो गयीं। अब महाकाव्यों व नाटकों वाला साहित्य, संगीत, कला प्रधान युग आया। जिसमें काव्य चर्चा ही विद्वानों का आभूषण बन गयी।

महाकवि कालिदास की सूक्तियाँ रस की भरी हुई गागर है। इन्होंने रामायण एवं महाभारत के शुष्क उपाख्यानों को अपने हृदय की सरसता से स्निग्ध बनाकर अपनी अद्भुत कवित्व प्रतिभा का प्रकाश स्तम्भ खड़ा कर दिया है। ब्रह्मा के कमंडलु में बंद सुरसरिता को जैसे भगीरथ ने भूतल पर अवतरित कर पुरखों और वंशजों का उद्धार किया वैसे ही महाकवि कालिदास ने रामायण एवं महाभारत के उपाख्यान कुण्डों में सीमित साहित्य धारा को सबके लिए प्रवाहित कर दिया। परवर्ती कवियों को जीवनी शक्ति प्रदान की।

कालिदास के सम्पूर्ण साहित्य में जिस चीज ने सहृदयों को सर्वाधिक मुग्ध किया है वह है उनकी 'उपमा'। किसी के बारे में बिना विस्तार में गये बहुत कुछ बता देने की सबसे उपयुक्त सार संक्षिप्त विधि है— उपमा। उपमा कवि की बहुज्ञता, बहु श्रुतता और जीवन जगत से उसकी निकटता तथा रागात्मक लगाव को सूचित कर देती है। उपमा चित्रात्मक भाषा की जान होती है और समस्त सादृश्य मूलक अलंकारों में श्रेष्ठ होती है।

एक छन्द में शकुन्तला की सुकुमारता, कोमलता, पवित्रता और सौन्दर्य सार को कालिदास ने बड़ी कुशलता से व्यक्त किया है—

अनघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररूहै—
रनाविद्धं रत्नं मधुनवमनास्वादित रसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूप मनघं।
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः।।[21]

अर्थात् उस शकुन्तला का निष्कलंक सौन्दर्य किसी के भी द्वारा न सूँघा गया फूल है, नाखूनों से न छुआ हुआ नवपल्लव है, न बिंधा हुआ रत्न (मणि) है, जिसके रस को नहीं चखा गया है, ऐसा नया (ताजा) मधु है। वह पुण्यों के सम्पूर्ण (अखण्ड, अक्षत) फल के समान है, न जाने विधाता इसके लिए कौन उपभोक्ता उपस्थित करेगा नहीं जानता हूँ। कितनी सूक्ष्मता से उन्होंने संसार को, इस प्रकृति को आँख भर देखा है। ये उनकी उपमाएँ बोलती है—

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनां,
माविष्कृतोऽरूणपुरः सर एकतोर्कः।
तेजोद्बयस्य युगपद व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्म दशान्तरेषु।।[22]

प्रातःकाल के वर्णन में एक ही साथ चन्द्रमा के अस्ताचल को जाने तथा सूर्य के उदयाचल पर्वत पर आरुढ़ होने के द्वारा संसार के प्राणियों की दशाओं में अवश्यम्भावी परिवर्तन का नियम प्रकारान्तर से इस बात का संकेत करता है कि मानव जीवन में सुख (प्रणय जनित आनन्द) सदा स्थायी नहीं रहता। प्राणी को कड़वे घूँट भी पीने पड़ते हैं।

एक—एक उपमा सूत्र वाक्य की तरह उनकी कविता प्रतिभा, निपुणता और व्युत्पत्ति का संचित कोश है। कालिदास ने उपमा विधान से अपनी वाणी को संक्षिप्त और अनुभूति को प्रामाणिक बना दिया है। कालिदास के सम्पूर्ण वाङ्मय के अवगाहन कर कोई भी सहृदय कह उठेगा 'उपमा कालिदासस्य'। आलोचकों ने निम्न उक्ति को कितनी सूक्ष्मता से अध्ययन के उपरांत प्रचारित किया होगा— 'उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवम्। दण्डिनः पद लालित्य माघे सन्ति त्रयो गुणाः।।' इस सूक्ति में कालिदास की उपमा, भारवि का अर्थ गौरव, दण्डी का पद लालित्य तथा माघ में तीनों गुणों का समाहार घोषित किया गया है। यह सूक्ति भी आलोचकों द्वारा सूत्र शैली में कहा गया श्रेष्ठ कथन है। एक कथा है— कालिदास एक बार सिंहलद्वीप गये थे। वहाँ एक दीवाल पर किसी विदुषी राजकन्या ने यह अर्धाली लिख छोड़ा था—

कमले कमलोत्पत्ति श्रूयते न तु दृश्यते।

(कमल में कमल की उत्पत्ति सुनी मगर देखी नहीं। (कालिदास ने चट उसके आगे लिख दिया—

बाले! तव मुखाम्भोजे कथमिन्दीवरद्वयम। (सुन्दरि! तुम्हारे मुख सरोज पर कैसे ये दो–दो इन्दीवर (नेत्र) खिले हुए हैं।) यह संक्षिप्त किन्तु बहु अर्थ समावेशिनी सरस भाषा कालिदास की सूक्ति प्रतिभा का दिग्दर्शन कराती है। कालिदास ने वाग् और अर्थ को अभिन्न रूप में संपृक्त करके कनिष्ठिकाधिष्ठित होने का प्रमाण दिया है।

संस्कृत के आलोचना जगत में भारवि अपने अर्थ–गौरव के निमित्त नितान्त प्रख्यात है। भारवि के अर्थ–गौरव की समता कहीं–कहीं कालिदास भी नहीं कर पाये हैं। अल्प शब्दों में विपुल अर्थ का सन्निवेश कर देना अर्थ–गौरव है। वस्तुतः अर्थ गौरव ही सूत्र वाक्य का प्राण है। आकार और शब्दों की दृष्टि से वैदिक सूत्र साहित्य भले ही सूत्र–शैली परम्परा का जनक रहा हो किन्तु अर्थ और कथ्य की दृष्टि से सूक्त या सूत्र वाक्य का चरमोत्कर्ष ऐसे ही संस्कृत कवियों में दिखाई पड़ा है। भारवि ने बड़े से बड़े अर्थ को थोड़े से शब्दों के द्वारा प्रकट कर वास्तव में अपनी काव्य चातुरी का परिचय दिया है। अपने भावों के प्रकटीकरण के लिए कवि उतने ही शब्दों को चुनता है जितने उस कार्य के लिए आवश्यक होते हैं। भारवि गम्भीर व्यक्तित्व से मण्डित महाकवि हैं उनकी कविता में भावों की उदात्तता है।

भारवि ने किरातार्जुनीयम् के प्रथम सर्ग के अनेक पद्यों के अन्तिम चरणों में ऐसी सदुक्तियों का प्रयोग किया है जो लघुतम होकर भी जीवन के सत्य, नैतिक मूल्य, उचित मार्गदर्शन राजनीति, और आदर्श रूप व्यापक अर्थ का प्रकाशन करती है–

अवन्ध्य कोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः।।[23]

अर्थात् सफल क्रोध वाले (जिसका क्रोध व्यर्थ नहीं जाता) व्यक्ति से आपत्तियाँ दूर रहती हैं और प्राणी वशीभूत रहते हैं किन्तु क्रोध शून्य व्यक्ति को न तो मित्र आदर देते हैं न शत्रु भय खाते हैं। युधिष्ठर को द्रौपदी कड़े शब्दों में कह रही है–

"व्रजन्ति ते मूढ़धियं पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधान असंवृतांगान्निशिता इवेषवः।।[24]

अर्थात् वे मन्दबुद्धि जो मायावियों (कपटी) के साथ मायावी (छली) नहीं बनते। उसी प्रकार पराजय को प्राप्त करते हैं, जिस प्रकार नंगेशरीर वाले योद्धा को शत्रु के बाण बेध डालते हैं। भारवि के बारे में भी एक किंवदन्ती है। उनके निम्न श्लोक ने किसी सेठ का घर उजड़ने से बचा लिया–

सहसा विदधीत मा क्रियाम् अविवेको हि परमापदांपदम्।
वृणुते हि विमृश्य कारिणं गुणलुब्धा स्वयमेव सम्पदः।। – (किरातार्जुनीयम)

अर्थात् अकस्मात् कोई कार्य नहीं करना चाहिए। क्योंकि अविवेक (बिना सोचे निर्णय लेने) से आपत्तियों का आगमन होता है। गुणों की लोभी सम्पत्तियाँ विचारविमर्श कर कार्य करने वाले का स्वयं ही वरण कर लेती है। भारवि की भाषा में गागर में सागर भरने की क्षमता है। आलोचकों ने उनकी कविता को नारिकेल फल की तरह बताया है। अर्थ–गर्भ सूक्तियाँ उनकी बहुज्ञता और भाषा पर असामान्य अधिकार को व्यक्त करती हैं।

संस्कृत काव्य के इतिहास को मुख्यतः तीन कालों में बाँटा जा सकता है– १. कालिदास पूर्व युग, २. कालिदास युग, ३. कालिदासोत्तर युग।

पूर्व–कालिदास युग में रामायण, महाभारत, पाणिनीय अष्टाध्यायी, जाम्बवंती जय, पाताल विजय आदि ग्रंथ मिलते हैं। पतंजलि का महाभाष्य और उसमें कंस वध, वासवदत्ता, सुमनोत्तरा आदि आख्यायिकाओं का उल्लेख हैं। इनमें भावपक्ष प्रधानतः उभर सका है। भाषा और कला पक्ष गौण रहा। कालिदास–युग के पुरोधा एवं नेतृत्वकर्ता स्वयं कालिदास है। इनमें भाव एवं कला का समन्वय है। इनका अनुसरण अश्वघोष, कुमार दास आदि ने किया है। कालिदासोत्तर युग के पुरोधा है– भारवि। इसी क्रम में माघ, भट्टी एवं आनन्दवर्धन इत्यादि उल्लेखनीय है। इस युग के कवियों में अलंकरण उक्ति–वैचित्र्य, चमत्कारपूर्ण पांडित्य की प्रधानता हुई।

माघ की एक मात्र कीर्ति का आधार है– शिशुपाल वध। महाकवि कालिदास से भाव तरलता, भारवि से अर्थ गौरव एवं कला प्रवीणता तथा भट्टि से व्याकरण पाण्डित्य तीनों का विचित्र समन्वय लेकर माघ की कविता उपस्थित होती है। 'रमणीयता' की परिभाषा करने वाली प्रसिद्ध सूक्ति– ''क्षणे–क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।।''[25]

माघ की ही उक्ति है। अलंकार के पंडित होने से माघ की उक्तियाँ अर्थगर्थ चमत्कार पूर्ण होने के साथ ही किंचित् कठिनाई से अर्थोद्घाटन करती है। श्रीहर्ष का नैषधीय चरित नल दमयन्ती कथा के ऊपर रचा गया है।अतिशयोक्तिपूर्ण कल्पना, प्रकृति एवं रमणी रूप के सुन्दर वर्णन तथा मनोहर सूक्तियों में यह महाकाव्य अपना सानी नहीं रखता। विशाल भारतीय वाङ्मय में न ऐसे सूक्ति सागर ग्रन्थों की कमी रही, न महाकवियों की। भरत मुनि, भास, कालिदास, भवभूति, विशाखदत्त, बाण, दण्डी आदि की परम्परा ने परवर्ती विद्वानों एवं कवियों को सूत्र साहित्य के लिए समृद्ध विरासत प्रदान की है। ऐतिहासिक काल्पनिक एवं साहित्यिक कथाओं में नीति, व्यवहार, ज्ञान एवं दर्शन के गूढ़ विषय को अपने सूत्र वाक्यों में पिरोकर सहृदय पाठकों एवं साहित्यानुरागियों की ज्ञान पिपासा को सदा तृप्त करने का प्रयास किया जाता रहा है। परवर्ती काल का साहित्य ऐसे महान साहित्य पुरखों का जूठन सा रह गया है। भारत का इतिहास ऐसे साहित्य से ही ऊर्जा पाता रहा है।

सूत्र काल की शैली की एक बार पुनः आवृत्ति होती है– भारतीय काव्य शास्त्र में। काव्यशास्त्रियों ने काव्य उनके लक्षणों अंगों उपांगों सहित भेदों, प्रभेदों की सूत्रात्मक परिभाषा करते हुए काव्य का व्याकरण निर्धारित करने का प्रयास किया है। काव्यांगों का सूक्ष्म चिंतन परक मापदण्ड तैयार कर उत्तम, मध्यम और अधम काव्य की कसौटियाँ बनाई जिसकी पद्धति का अनुसरण करते हुए रीतिकाल में लक्षण ग्रंथों की परिपाटी केशव ने चलाई। तदुपरांत एक काल विशेष में यह लम्बे समय तक काव्य प्रवृत्ति बनी रही। काव्यशास्त्रीय परम्परा में आलोचनात्मक चिंतन के सूक्ष्म निरूपण के लिए सूत्र शैली कारगर साबित हुई।

प्रबंध काव्य की अपेक्षा मुक्तक काव्य में सूत्र–शैली खूब फली–फूली है। जितनी छोटे छन्दों के भीतर यह शैली प्रभावी हुई, उतनी बड़े छन्दों में नहीं। आकार–प्रकार की इसी लाघवता की विशिष्टता के कारण और अपनी समन्वय तथा समाहार शक्ति के कारण काव्यशास्त्रियों के द्वारा दिये गये काव्यों के लक्षण, प्रयोजन और हेतु का निरुपण करने वाले छन्द सहृदय पाठकों के कंठ में स्थायी निवास प्राप्त करते हैं।

श्लोक भी सूक्ति रूप ही है। गद्य के एक लम्बे वाक्य अथवा अवतरण के बराबर एक श्लोक अर्थ देता है, वह भी काव्य की रसमयता, संक्षिप्तता एवं आनन्द के साथ। वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक एक छन्द जो व्यापक रूप में मिलता है, वह है– अनुष्टुप छन्द। यह वैदिक छन्द

है किन्तु तमाम वैदिक छन्दों में से अकेला ही अब तक कवियों की अभिव्यक्ति का साधन बना रहा। अनुष्टुप छन्द की सरलता के कारण ही काफी लम्बे समय तक साहित्य में गद्य का प्रवेश न हो सका। आदि कवि वाल्मीकि का प्रथम छन्द भी अनुष्टुप छन्द है। इसे श्लोक भी कहते हैं। इसकी तुलना हिन्दी भाषा के छन्द 'दोहे से' की जा सकती है। हिन्दी भाषा में अनुष्टुप छन्द का स्थान दोहे ने ले लिया था। आज तक यह सूक्ति अथवा सूत्र कथन का माध्यम बना हुआ है। साहित्य के भीतर सूत्र कथन की प्रवृत्ति एक सामान्य प्रवृत्ति है। जिसकी उपस्थिति सब कालों के साहित्य में मिलती है। सिद्धों नाथों से लेकर कबीर दास तक की बानियों में ''सार–सार को गहि रहे, थोथा देइ उड़ाय'' की मानसिकता व्यक्त हुई है। मित कथन के उदाहरणस्वरूप लोक मे जन–जन में प्रचलित कबीरदास की एक साखी (अथवा दोहा) उद्धृत है–

घटनी को बढ़नी कहे, बने दूध को खोया।
चलती को गाड़ी कहे, देख कबीरा रोया।।

संत कबीर की बानियों में अनेक ऐसे कथन ढूँढने पर मिल जायेंगे जिनमें जीवन जगत की सार बातें, अनुभव की ठोस सच्चाई छोटी–छोटी साखियों के माध्यम से कह दी गई है। महाकवि तुलसीदास ने तो अपने समूचे महाकाव्य को

नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद।
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोअपि।[26]

का संकेत करते हुए सार सर्वस्व या निचोड़ ही सिद्ध किया है। वास्तव में वेद, पुराण, आगम, निगम, रामायण–महाभारत में फैले हुए राम के विशुद्ध उज्ज्वल चरित्र को बटोर कर उसका सार गोस्वामी जी ने संसार के कल्याणार्थ प्रस्तुत कर दिया है। असंगत तथ्यों को दूर कर कल्पना एवं प्रतिभा के योग से आक्षेपों का निवारण करते हुए विमल चरित्र का सृजन किया है और अपनी इसी वाणी को सच कर दिखाया है–

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सबकहँ हित होई।।[27]

रीतिकाल के प्रवर्तक आचार्य केशव की रसिक प्रिया के दोहे, रामचन्द्रिका के सम्वाद संक्षिप्त, चुटीले अर्थपूर्ण और मितकथन के कारण सूत्र वाक्य सा आभास देते हैं। रामचन्द्रिका में हनुमान रावण संवाद का एक उदाहरण–

'केधौं बँधायो? जु सुन्दरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेख्यों।' जिसमें केशव प्रश्नोत्तर में ही पात्रों का चरित्र चित्रण करते जान पड़ते हैं। परसर्गों एवं क्रियापदों की न्यूनता से कसी हुई पदावली हिन्दी की विश्लिष्ट पद रचना की अपेक्षा संस्कृत के संश्लिष्ट पदावली के अधिक निकट जान पड़ती है।

बिहारी के दोहों पर केशव की छाप स्पष्ट दिखायी देती है। 'गागर में सागर' भरने की उक्ति तो विशेष रूप से बिहारी के लिए ही प्रसिद्ध हुई। विशुद्ध काव्य के अतिरिक्त बिहारी ने सूक्तियाँ भी बहुत सी कही है। जिनमें बहुत सी नीति सम्बन्धिनी है। सूक्तियों में वर्णन वैचिर्न्य ही प्रधान रहता है। अतः उनमें से कुछ एक की ही गणना असल काव्य में हो सकती है।

रीतिकाल में सूक्ति वाक्यों की भरमार है। चिन्तामणि, देव, पद्माकर, सेनापति, मतिराम, घनानंद बोधा आदि के अधिकांश पद्यों के अंतिम चरण किसी न किसी सारांश को व्यक्त कर देते हैं। संक्षेप में बोधा की यह पंक्ति– ''यह प्रेम को पंथ कराल महातरवारि की धार पे धावनो है।''[28]

पद्य के भीतर जिस रूप में सूत्र शैली का प्रयोग हो सकता है। रीतिकाल के कवियों ने खूब किया। एक से एक सरस, मार्मिक, भाव प्रवण, सूक्तियाँ, हृदय को रस मग्न कर देती है।

कवियों के भीतर समस्यापूर्ति की एक प्रवृत्ति भी कमोवेश हर काल में पाई जाती रही है। कालिदास के जमाने से ही इसकी उपस्थिति साहित्य में रही है। किञ्चित सूक्ष्म संबंधों की तलाश करें तो यह भी सूत्र कथन का ही एक प्रकार लगती है, अन्तर इतना ही है कि विशुद्ध सूत्र वाक्य निगमनात्मक (सूत्र से उदाहरण, सिद्धान्त से व्याख्या की ओर) होता है और सूक्ति या समस्या पूर्ति आदि 'प्रकार' आगमनात्मक (व्याख्या, उदाहरण से सूत्र वाक्य की ओर) होता है। 'पपिहा जब पूछिहै पीव कहाँ' पर पं० प्रतापनारायण मिश्र की समस्या पूर्ति द्रष्टव्य है।––

बनि बैठी है मान की मूरति सी मुख खोलत बौले न नाही न हाँ।
तुमही मनुहारि के हारिपरे सखियान की कौन चलाई वहाँ।
वरषा है प्रताप जू धीर धरौ अब लौ मन को समुझायो जहाँ।
यह व्यारि तबै बदलेगी कछू पपिहा जब पूछिहै पीव कहाँ।।[29]

ऐसे ही समस्या पूर्तिकार बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन', पं० अम्बिका दत्त व्यास आदि श्रेष्ठ कवि रहे हैं। भारतीय साहित्य में सूत्र शैली में कथन करने की प्रवृत्ति वाले अनेकानेक श्रेष्ठ कवि, आलोचक हो चुके हैं। सबका वर्णन यहाँ सम्भव नहीं मेरा मन्तव्य मात्र प्राचीन काल से अब तक चली आ रही सूत्र शैली (सूक्ति) परम्परा का संक्षिप्त प्रमाण प्रस्तुत करना है और इसी परम्परा के अंतर्गत आधुनिक काल के श्रेष्ठ चिन्तक आलोचक वर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की सूत्र कथनशैली के ऊपर किञ्चित प्रकाश डालना है।

यह एक सर्वमान्य धारणा है कि ''शुक्ल जी हिन्दी के उन विरल विचारकों, आलोचकों में है, जिनके लेखन में अनावश्यक विस्तार या फैलाव नहीं मिलता यही कारण है कि उनके निष्कर्ष तो महत्वपूर्ण हैं ही । वह विवेचन विश्लेषण और तर्क शृंखला भी कम महत्वपूर्ण नहीं जिससे होकर शुक्ल जी अपने निष्कर्षों तक पहुँचे थे।''[30]

बीज कथन की अचूक मेधा के महारथी आचार्य शुक्ल के एक–एक अक्षर बीजाक्षर है। उनके वाक्यों की वास्तुकला में एक–एक पद उस संग–तराश के पत्थरों की तरह है, जिनकों उनके स्थान से हटाकर उसका कोई स्थानापन्न नहीं रख सकते। अपने–अपने स्थान पर उनके शब्द अडिग होते हैं। कविता क्या है? इस निबंध में कविता को रसदशा में पहुँचा देने वाले अलौकिक साधन के रूप में संकेत करते हुए शुक्ल जी कहते हैं– ''जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।''[31]

इस प्रकार कवि अपने मुक्ति की साधना करते–करते मुक्ति दाता भी बनता है। इस प्रकार लोक मंगल का उसका लक्ष्य सिद्ध होता है। मनुष्यता की उच्च भूमि पशुता से ऊपर होती है। शुक्ल जी का यह सीधा कथन है– ''पशुत्व से मनुष्यत्व में जिस प्रकार अधिक ज्ञान प्रसार की विशेषता है उसी प्रकार अधिक भाव प्रसार की भी।''[32] पशु केवल अपने बच्चों या पालक तक ही प्रेम कर सकते हैं। मनुष्य अपने–पराये के भाव से मुक्त प्राणीमात्र तक भाव प्रसार कर सकता है। सबमें वह सौन्दर्य को देख सकता है, जीव मात्र की वेदना पर उसके नेत्र सजल हो जाते हैं।

एक क्षण विशेष में उत्पन्न हुआ क्रोध कहीं लम्बे समय तक स्मृति में बना रह गया तो द्वेष की चासनी में पगकर वह बैर रूपी मुरब्बा (अचार) बन जाता है। एक वाक्य में कहें तो शुक्ल जी का सूत्र ''बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।''[33]

उनकी दृष्टांत प्रस्तुति चकित किये बिना नहीं रहती। शुक्ल जी की गद्यशैली खासकर निष्कर्षपरक सूत्र शैली ने बड़े–बड़े साहित्यकारों को मुग्ध किया है। कविवर अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध ने शुक्ल जी की प्रशंसा करते हुए कहा है– ''शुक्ल जी जिस प्रकार की सूक्ष्म अंतर्दृष्टि सम्पन्न उच्चकोटि के समालोचक हैं। उसी प्रकार गंभीर और गहन गद्य शैली के प्रवर्तक भी। उनके एक–एक पैराग्राफ में जैसी महान विचार माला गुंफित मिलती है वैसी अन्यत्र बहुत कम दृष्टिगोचर होगी। उनके निबंधों में कहीं कहीं ऐसे चुने हुए सूत्रवत वाक्य आ जाते हैं जिनके भीतर बहुत से व्यापक और गूढ़ तथ्य छिपे रहते हैं। अत्यंत सुव्यवस्थित और शुद्ध वाक्य विन्यास तथा स्वच्छंद गति से चलती हुई प्रांजल भाषा नूतन विचारों का भंडार सी जान पड़ती है। यह मैं स्वीकार करूँगा कि उनके पाठकों को दुरुहता और जटिलता उपलब्ध होती है किन्तु यह कौन नहीं जानता कि दार्शनिक शैली की लेख की भाषा मननशीलता सापेक्ष होती है।[34]

आचार्य शुक्ल रस सिद्धान्त के व्याख्याता भी हैं। एक काव्यशास्त्रीय चिन्तन के रूप में साधारणीकरण की व्याख्या करने के लिए कहा गया उनका सूत्र ''साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है।''[35]. एक गूढ़ निष्कर्ष है। 'आलम्बनत्व' यानी आलम्बन के भीतर उपस्थित वह सामान्य गुणधर्म जिसके कारण वह आलम्बनबना है। जिसका साक्षात्कार आश्रय के स्थायीभाव को जगा देता है जिसके कारण आश्रय के भीतर रसोद्रेक को उत्पन्न होने का आधार (आलम्बन) मिलता है या जिसे लक्ष्य करके आश्रय के चित्त में रसास्वादन की प्रक्रिया शुरू होती है और जिसके अभाव में शायद रसानुभूति की चर्चा ही सम्भव नहीं होती वह है रति (आदि स्थायी भावों) की पात्रता। रति–पात्रता के कारण ही शकुन्तला दुष्यंत की प्रेमचेष्टाओं का आलम्बन बन पाती है। यही आलम्बन बन पाने की योग्यता ही उसका आलम्बनत्व है। इसी आलम्बनत्व धर्म का संचार जैसे दुष्यंत के भीतर है, वैसे ही सब दर्शकों या श्रोताओं के भीतर होने लगता है। वह विशेष नायिका न रहकर सबके लिए सामान्य प्रेमिका लगने लगती है। तत्पश्चात् दुष्यंत का स्थायी भाव सबका स्थायी भाव हो जाता है। नायिका के प्रति रति भाव सबका काम्य हो जाता है। अतः समस्त दर्शक श्रृंगार रस का आस्वादन करने लगते हैं। यही नाटक काव्य का सम्यक संप्रेषण है, यही साधारणी करण की अवस्था है।

आचार्य शुक्ल के कुछ विचार व्याकरण के गणितीय सूत्र–सिद्धान्त–कारिकाओं की भांति ठोस एवं अर्थ गर्भ है। 'आलम्बनत्व–धर्म' पद की सोच मौलिक सूक्ष्म चिंतन की ऊपज है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त और सरल संकलन 'दशरूपक' के नाम से धनंजय ने किया था। दशरूपक में नाट्यशास्त्र की पारिभाषित शब्दावलियों की सारगर्भित विवेचना करने की समाहार चेष्टा झलकती है। क्रोध, अमर्ष, उत्साह, ईर्ष्या, क्षोभ, घृणा, भय, शंका आदि मनोविकारों की पारिभाषिक व्याख्या शुक्ल जी ने दशरूपक की पद्धति पर की है ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु धनंजय ने तो अत्यंत संक्षिप्त अर्थमात्र को परिभाषा रूप में उल्लेख किया है। जबकि आचार्य शुक्ल जी ने जिस मनोविकार को पकड़ा उसकी छाया से लेकर गम्भीर स्वरूप तक की खूब रमते हुए लालित्यपूर्ण निबन्ध रचना कर दी है। दूर–दूर तक उस मनोविकार की पहुँच, प्रकार, भेद–प्रभेद तक को नहीं छोड़ा। क्रोध के प्रसंग में अमर्ष नामक मनोभाव की चर्चा करते हुए कहते हैं– ''किसी बात का बुरा लगना, उसकी

असहायता का क्षोभयुक्त और आवेग पूर्ण अनुभव होना अमर्ष कहलाता है।''[36] अमर्ष क्रोध के आगमन की पूर्व अवस्था है। क्रोध के आवाहन का लक्षण है। क्रोध सूर्योदय है तो अमर्ष अरूणोदय। इसमें आश्रय बर्दाश्त के बाहर होने की क्षोभपूर्ण अभिव्यक्ति दे रहा होता है, इसी की चरम परिणति क्रोधावेश होता है।

'ग्लानि' की परिभाषा करते हुए वे एक जगह कहते हैं कि– ''अपनी बुराईयों, मूर्खता, तुच्छता इत्यादि का एकान्त में अनुभव करने से वृत्तियों में जो शैथिल्य आता है, उसे 'ग्लानि' कहते हैं।''[37] लज्जा के लिए हमारा बुरा होना आवश्यक नहीं बल्कि दूसरे के विचारों का अनुमान कि वह हमें दोषी या बुरा समझता होगा यह आवश्यक है। जबकि ग्लानि सच में अपनी बुरी आदतों, बुरे कर्मों के प्रति होती है। यह सत्व प्रधान लोगों में होता है। इससे चित्त की शुद्धि और बिगड़े के सुधार का मार्ग तैयार होता है। पश्चाताप से हमारा हृदय पिघलकर नये साँचे में ढलने के योग्य हो सकता है।

भावों या मनोविकारों का इतना स्पष्ट और सूक्ष्म निरूपण कुशल मनोवैज्ञानिक भी शायद ही कर सके। यही शुक्ल जी की विशिष्ट प्रतिभा झलकती है। व्यक्ति मन स्खलनशील होता है। विशुद्ध से विशुद्ध नियम अथवा आचरण दीर्घकाल तक अविकृत नहीं रह सकता, उसमें विकार आ ही जाता है। मनमानी मिलावट उसे अवश्य विकृत करके छोड़ती है। भक्तिकाल की पृष्ठभूमि में ज्ञान, कर्म और भक्ति के बदलते विधान को बड़ी बारीकी से उजागर करते हैं– ''कर्म अर्थशून्य विधि–विधानों से निकम्मा हो सकता है। ज्ञान रहस्य और गुह्य की भावना से पाखंड पूर्ण हो सकता है, और भक्ति इन्द्रियोपभोग की वासना से कलुषित हो सकती है।''[38]

शुक्ल जी का यह निष्कर्ष थोथे आडम्बर बन चुके वैदिक कर्मकाण्ड की विकृत दशा, सिद्धों–नाथों से लेकर कबीर तक की ज्ञान धारा में छद्म गर्वोक्तियों में छिपी गुह्य उलटवासियों और कृष्णभक्ति की विलासिता और अश्लीलत्व का रूप प्राप्त कर चुकी परम्परा के गंभीर अन्वेषण से निकल कर आया है। सेवा की भावना न होने से साधना अहंकार बढ़ाने वाली होती है। श्रद्धा, बुद्धि को परे हटाकर की गई प्रेम लक्षणा भक्ति अति अंतरंगता से शृंगारिकता और विलासिता से भद्दी हो जाती है। ऐसा उनका निश्चय है।

तुलसी की भक्ति में कर्म (धर्म) और ज्ञान का पूरा सामंजस्य और समन्वय रहा भक्ति, श्रद्धा से रहित कभी नहीं हुई जिसके कारण तुलसी शुक्ल जी के प्रिय कवि है। आगे वे एक जगह स्पष्ट करते हैं कि– 'प्रेम और शृंगार का ऐसा वर्णन जो बिना किसी लज्जा और संकोच के सबसे सामने पढ़ा जा सके, गोस्वामी जी का ही है।''[39]

सूक्ति और सूत्र दोनों में मूल अन्तर कथन की भंगिमा का नहीं बल्कि विषय का है। सूक्ति में कोई न कोई दृष्टांत छिपा होता है। अपनी बात को उदाहरण द्वारा पुष्ट करने की चेष्टा झलकती है, जबकि सूत्र संक्षेप में एक पूर्ण वाक्य या कथन होता है। उसे उदाहरण से पुष्ट करने की नहीं केवल व्याख्या द्वारा विस्तार से समझने की आवश्यकता होती है। वस्तुतः सूत्र कथनशैली की पारम्परिक यात्रा मुख्य रूप से कथ्य की यात्रा रही। रूप वही, भंगिमा वहीं, बस कथ्य बदलते रहे हैं। अतः वाह्य रूप से समान दिखने वाले सूत्र वाक्य आन्तरिक भेद से मुहावरें, लोकोक्तियाँ, समस्या पूर्ति, प्रहेलिका, आदि कई नाम धारण करते हैं। जैसे– ''बैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है।'' इसमें 'अचार' या 'मुरब्बे' के दृष्टांत द्वारा बिम्ब खड़ा किया गया है। ताकि बैर का पुराना होना (सेया जाना) या पालकर रखना प्रकट होता है। जबकि सूत्र वाक्य बिम्ब नहीं बनाता बल्कि तथ्य की सम्पूर्णता से युक्त होता है और

सुनने के बाद समझ के भीतर अनुभूति के स्तर पर ग्रहण होने लगता है। जैसे– ''श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।''[40] अथवा ''भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है।''[41].

इन सूत्र वाक्यों में व्याख्या द्वारा विशेष का सामान्यीकरण भर करने की आवश्यकता है। ये अपने में पूर्ण है। इस सूक्ष्म अन्तर से थोड़ा परे जाकर मैंने सूत्र शैली के अन्तर्गत सूक्ति–कथन समस्या पूर्ति आदि को भी शामिल कर लिया है। क्योंकि ये सब मौसमी (फल) और नींबू, सन्तरे आदि की भाँति मुझे एक ही प्रजाति के लगे। सब भेद एक दूसरे के पारम्परिक विकास में समानान्तर संलग्न रहे हैं।

डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी ने शुक्ल जी को कुछ मामलों में विशेषतः भाषा एवं शैली की दृष्टि से प्रेमचन्द्र से समानता दिखायी है। उनका कहना है– ''आचार्य शुक्ल ने आलोचनात्मक के क्षेत्र में वह काम किया जो कथा साहित्य में प्रेमचन्द ने किया है। जिस तरह से प्रेमचन्द्र ने कथा रसिकों का आस्वाद बदला, चंद्रकान्ता सन्तति के पाठकों को सेवा सदन और गोदान का पाठक बनाया उसी तरह आचार्य शुक्ल ने साहित्य के आनंदवादी रसिकों को मर्म सौंदर्य से आकृष्ट होने की क्षमता और रूचि प्रदान की।''[42]

प्रेमचंद की कहानियों में भी खूब सूक्तियाँ भरी पड़ी है। अर्थात् सूत्र कथन की शैली प्रेमचन्द में भी रही है। किन्तु उनके सूत्र वाक्य लोकोक्तियों, मुहावरेदार व्यंग्य का आनंद देते हैं– जैसे 'दाई से पेट नहीं छिपता, सभ्यता हुनर के साथ ऐब करने का नाम है, काने को काना कहने से जो दुख होता है, वह क्या दो आँखों वालों को हो सकता है।' इत्यादि अनेक अर्थ–गर्भ सूत्र कथन लोकोक्ति के नजदीक हैं। ये जीवन की आँखों देखी सच्चाई उगलते है। लोक के भीतर डूबकर पाये गये अनुभवों से निर्मित हैं। प्रेमचंद्र और शुक्ल जी के सूत्र वाक्यों में कथाकार और आलोचक की स्वतंत्रता और प्रतिबद्धता, प्रयोजन मूलकता का अन्तर विद्यमान है। मनुष्य का व्यवहार, ज्ञान, भाषा और संस्कार समाज द्वारा अर्जित होता है। इस नाते शुक्ल जी पर प्रेमचंद के प्रभाव के रूप में इसे व्याख्यायित करे तो भी कोई अनौचित्य या असंगति नहीं है।

सूत्र कथन में शुक्ल जी की निश्चयात्मिका बुद्धि और भावयित्री प्रतिभा का महत् स्वरूप देखने को मिलता है। कहीं–कहीं कवियों व महापुरुषों की विशिष्टता उजागर करते हुए अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रायः वे एक ही पारिभाषिक शब्द में तत् कवियों व महापुरुषों के व्यक्तित्व का निचोड़ प्रस्तुत कर देते हैं। इनकी इस सामर्थ्य पर शुक्ल जी के सहृदय पाठक सम्मोहित हुए बिना नहीं रह पाते। पुनः–पुनः इसे पढ़ते व मुग्ध होते हैं।

कबीर के बारे में जब वे कहते हैं, ''उनमें प्रतिभा बड़ी प्रखर थी इसमें संदेह नहीं''[43] तो ऐसा लगता है कि कबीर का 'मसि कागद' से अछूता रहना भी उनकी प्रतिभा को रोक न सका, सचमुच वह प्रखर प्रतिभा ही है जो अनपढ़ होते हुए भी उन्हें युग प्रवर्तक क्रांतिकारी बना देती है। कहीं कबीर पढ़े लिखे होते तो न जाने क्या कर देते। घनानंद का अनुशीलन करते हुए प्रथम पंक्ति में ही शुक्ल जी लिखते हैं। ''ये साक्षात् रसमूर्ति और ब्रजभाषा काव्य के प्रधान स्तम्भों में है।''[44] घनानंद के पूरे आख्यान में शुक्ल जी के हृदय से बार–बार यह भाव व्यक्त हुआ कि 'ऐसा कवि दूसरा नहीं हुआ' प्रथम बार कहते हैं– ''प्रेम की पीर ही को लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। प्रेम मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबाँदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।''[45] आगे फिर एक जगह दूसरी बार कहते हैं– ''प्रेम की गूढ़ अंतर्दशा का उद्‌घाटन जैसा

इनमें है वैसा हिन्दी के अन्य शृंगारी कवि में नहीं।''[46] घनानंद की मौन मधि पुकार शुक्ल जी से छिपी रहीं रही। तीसरी बार वे भाषा की विशिष्टता पर कहते हैं– ''यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि भाषा पर जैसा अचूक अधिकार इनका था वैसा और किसी कवि का नहीं।''[47] चौथी बार की व्यंजना शक्ति पर आकृष्ट होकर बरबस ही कह उठते हैं– ''अपनी भावनाओं के अनूठे रूप रंग की व्यंजना के लिए भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करने वाला हिन्दी के पुराने कवियों में दूसरा नहीं हुआ।''[48]

शुक्ल जी को दो कवियों ने सर्वाधिक मुग्ध किया है– एक घनानंद दूसरे तुलसीदास। तुलसीदास में उन्हें भक्ति का आदर्श दिखा तो घनानंद में प्रेम का। ये दो भाव शुक्ल जी के श्रद्धा भाजन बने जिससे उन्हीं का दिया हुआ समीकरण (श्रद्धा + प्रेम = भक्ति) पुष्ट होता है। सम्भवतः छायावादी संस्कारों के कारण ये दोनों भाव शुक्ल जी को अधिक हृदयानुकूल पड़ते हैं। सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के लिए वे एक सार्थक विशेषण ''बहु वस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा''[49] का प्रयोग करते है। स्पष्टतः निराला का गीत, गजल, छन्द, मुक्त–छन्द, प्रगीत, प्रेम, भक्ति, अध्यात्म, परदुःखकातरता, सहानुभूति, आक्रोश, विद्रोह, आदि से संश्लिष्ट व्यक्तित्व अनेक विधाओं और अनेक वर्ण्य विषयों का स्पर्श करता हुआ बहुआयामी प्रसार लिये हुए है।

मिर्जापुर प्रवास के दौरान पं० बदरीनारायण चौधरी प्रेमधन से परिचय के शुरूआती दिनों में भारतेन्दु मण्डल के इस अवशेष प्रतिभा के दर्शन के प्रति शुक्ल जी बहुत उत्कंठित थे। उनके सीधे साक्षात्कार का बड़ा चित्रात्मक वर्णन यों किया है– ''हम लोग उन्हें एक पुरानी चीज समझा करते थे। इस पुरातत्व की दृष्टि में प्रेम और कुतूहल का एक अद्भुत मिश्रण था। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि चौधरी साहब एक खासे हिन्दोस्तानी रईस थे। बसंत पंचमी, होली इत्यादि अवसरों पर उनके यहाँ खूब नाच रंग और उत्सव हुआ करते थे। उनकी हर एक अदा से रियासत और तबियतदारी टपकती थी। कंधों तक बाल लटक रहे हैं। आप इधर से उधर टहल रहे हैं। एक छोटा लड़का पान की तश्तरी लिए पीछे–पीछे लगा हुआ है। बालों के काट–छाँट का क्या कहना।''[50]

शुक्ल जी बहुधा विषय का प्रतिपादन जमकर पूरी तरह से करते हैं। एक विचार अन्याय कितने ही विचारों के साथ जुड़ा हुआ रहता है। उनके विचारों में बहुत दूर तक संगति मिलती है। कई जगहों पर ''वे एक विषय के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण करते हुए उसको साहित्यिक सांस्कृतिक परम्परा से जोड़ते हैं और सम्यक् विवेचन करने के बाद एक बार फिर सारांश बताते हैं। इसे जानना अपने आप में तृप्तिदायक है। शुक्ल जी उन विरले लेखकों, समीक्षकों में हैं, जिनकी पुनरुक्तियाँ हमें खलती नहीं और न उबाती हैं। बड़ा दिलचस्प है यह देखना कि कुछेक बातों को बल्कि गद्यांश और लेखों को भी वे यत्र–तत्र सर्वत्र दोहराते है। पर ऐसा नहीं लगता है कि यह विचारों के अभाव का या नए मुहावरों में कहें 'विचारों से विदाई' का परिणाम है। उलटे इसके पीछे उनकी सजगता और प्रखरता झलकती है। अपने मूल्यों, आदर्शों की कसौटी पर वे रचनाओं, रचनाकारों और साहित्यकारों को बार–बार परखते हैं और इस तरह एक ओर से इन मूल्यों को और दूसरी ओर अपने विषय तथा प्रतिपादन को पैना बनाते हैं।''[51]

सूत्रशैली परम्परा में शुक्ल जी एक अचल स्थान पर प्रतिष्ठित है। वे परवर्ती आलोचनाशैली के उपजीव्य बने। ऊँचे प्रकाश स्तम्भ की भाँति साहित्यकारों, आलोचकों का मार्गदर्शन आज भी उनका लेखन करता रहा है।

शुक्ल जी के उपरान्त बहुत से अन्य समर्थ चिन्तकों का आगमन हुआ। जिन्होंने शुक्ल जी का प्रभाव ग्रहण करते हुए अपना स्वयं का प्रतिमान खड़ा किया। यशस्वी आलोचक प्रो० नामवर सिंह हिन्दी का आत्मबल दृढ़ किये हुए थे ।शुक्ल जी के तिरोधान के बाद आचार्य चंद्रबली पाण्डेय ने साहित्य संदेश के नाम लिखे गये पत्र में अपना भावपूर्ण उद्‌गार व्यक्त करते हुए कहा है। ''शुक्ल जी से जो कुछ मैंने ग्रहण किया उसका लेखा नहीं लिखा जा सकता। उनके चरणों में बैठकर जो कुछ मैंने प्राप्त किया वह इतना ही कि उसके सामने 'मैं' कुछ नही है मेरी सारी मौलिकता तो उनकी जूठन पर निछावर हैं। मुझे शुक्ल जी का उपजीवी शिष्य कहलाना जितना सुखद और साधु प्रतीत होता है, उतना मौलिक या स्वच्छंद नहीं।''[52]

एक समीक्षक के रूप में उनका मानना था कि ''किसी चली आती हुई साहित्यिक परम्परा का उद्‌घाटन भी समीक्षक का एक भारी कर्तव्य है।''[53]

इसका पूर्ण निर्वाह उनके द्वारा हुआ है। वे हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक क्रम विकास में बदलती हुई परिस्थितियों की सम्यक् समझ रखते हैं। उन्होंने सूरदास के गीतों को पहले से चली आती हुई मौखिक परम्परा का विकास सिद्ध किया है। मौलिकता की सूक्ष्म पकड़ उनमें खूब है। कहाँ मूल रूप को तोड़ा, मरोड़ा गया है, कहाँ अतिरिक्त जोड़ा गया है। यह समझने में उनकी जासूसी दृष्टि कहीं चूक नहीं करती है। उनकी छाया ग्राहिणी बुद्धि रामचरितमानस के उन गुप्तचरों की (जो लंका के मार्ग में सीता–खोज के समय हनुमान जी से मिलते हैं) समेकित विशेषता रखती है। कहीं वह लंका की (लंकापुरी की अधिष्ठात्री देवी) भाँति स्वर्णमयी नगरी में प्रवेश करने वाले 'लंक के चोरा' को पकड़ लेती है, कहीं वह सिंधु बीच रहने वाली छायाग्राहिणी की भाँति बदलती साहित्यिक प्रवृत्तियों की छाया पकड़ लेती है। शांत जल (साहित्य) में छाया पड़ी, नयापन दिखा और परछाई पकड़ लिया इनकी सजग लेखनी साहित्य सरोवर के ऊपर उड़ने वाले जंतु (नभचरों) की परछाई पकड़ने में दक्ष है। रामकाव्य की शृंगार रसिक परम्परा के बारे में उन्होंने ऐसी ही सजगता दिखाई है। कहीं पर उनकी बुद्धि सुरसा की तरह मुख (वचन, वाणी, कथन) का विस्तार कर साहित्य धाराओं की प्राणशक्ति का बलाबल अनुमान करने में जुट जाती है।

प्रज्ञा का अर्थ है– प्रकट ज्ञान। प्रज्ञा अंतर्दृष्टि (या सूझ) की शक्ति होती है। यह प्रतिभा की अनुमापक भी है। शुक्ल जी के भीतर इसकी नैसर्गिक उपस्थिति है। सिद्ध पुरुष की भाँति गूढ़ रहस्य उनके लिए हस्तामलकवत है–

जथा सुअंजन अंजि दृग, साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखत शैल बन भूतल भूरि निधान।।

सन्दर्भ–सूची :–

1. वैदिक साहित्य का इतिहास, डॉ० राजकिशोर सिंह, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, सं० १६७८, पृ० ४.
2. वैदिक मंत्र चयनम्, उ.प्र.रा.ट.मु.वि.वि., इलाहाबाद, यू.जी०एस.टी.४, सं० मार्च २००६, पृ० १०–११.
3. ऋग्वेद संहिता, सायण भाष्य, मण्डल–३, अध्याय ५ सूक्त ६२, मंत्र १०, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, महाराष्ट्र।
4. गृह्यसूत्र और उनका विनियोग, डॉ० कृष्णलाल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृ० २६०–२६१।
5. वैदिक मंत्र चयन, उ.प्र.रा.ट.मु.वि.वि., इलाहाबाद, यू. जी.एस.टी.४, सं० मार्च २००६, पृ० ११
6. ग्वेद संहिता, सायण भाष्य, मण्डल–१, अध्याय १ सूक्त १, मंत्र १, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, महाराष्ट्र।
7. रामचरितमानस, तुलसीदास, अरण्यकाण्ड, २३६१, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१०।
8. वही, लंकाकाण्ड, दोहा १०८, चौ० ४, छन्द १।
9. शिवसंकल्प सूक्त, शुक्ल यजुर्वेद संहिता, अध्याय ३४, सूक्त १, मंत्र ६।

10. वैदिक मंत्र चयन, उ.प्र.रा.ट.मु.वि.वि., इलाहाबाद, यू.जी.एस.टी.४, सं० मार्च २००६, पृ० ८
11. वेदांत सार, सदानन्द योगीन्द्रकृत, डॉ० कृष्णकान्त त्रिपाठी, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, सं० १६८०, पृ० ६७।
12. वही, पृ० ६७।
13. श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर, सं० २०१०, अध्याय २, श्लोक १४।
14. (पाणिनी शिक्षा ४१,४२), वैदिक मंत्र चयन रू उ.प्र. रा.ट.मु.वि.वि., इलाहाबाद, यू.जी.एस.टी.४, सं० मार्च २००६, पृ० २५
15. सिद्धान्तकौमुदी, कारक प्रकरण, तत्त्वबोधीय व्याख्योपेता, वेंटकेश्वर प्रेस, मुम्बई, पृ० १५६, सं० १६७३।
16. मध्य सिद्धान्त कौमुदी (वरदराजकृत), चौखम्बा अमर भारती प्रकाशन, सं० १६६०, पृ० १०७—१०८।
17. प्राणायाम प्रकाश, बृजेश कुमार, शिवयोग प्राणायाम प्रशिक्षण एवं अनुसंधान केन्द्र, आजमगढ़, उ० प्र०, सं० २००६, पृ० ३८—३६
18. वैदिक साहित्य का इतिहास, डॉ० राजकिशोर सिंह, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, सं० १६७८, पृ० २११।
19. वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड, सर्ग २७, श्लोक ६, गीताप्रेस गोरखपुर।
20. (महाभारत, वन पर्व, १७०६६), संस्कृत साहित्य का इतिहास, उ.प्र.रा.ट.मु.वि.वि., इलाहाबाद, यू.जी.एस.टी.५, सं० मार्च २००६, पृ० ४३।
21. अभिज्ञानशाकुन्तलम् कालिदास रचित, द्वितीय अंक, श्लोक—१०।
22. वहीं, चतुर्थ अंक, श्लोक—२।
23. किरातार्जुनीयम्, सर्ग प्रथम, श्लोक—३३।
24. वहीं, श्लोक—३०।
25. शिशुपाल वध, द्वितीय सर्ग।
26. रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा—७, पृ० २, गीताप्रेस गोरखपुर, सं० २०१०।
27. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१०, पृ० १३८।
28. वही, पृ० २०४।
29. वही, पृ० ३१५।
30. आचार्य शुक्ल विचार कोश, अजित कुमार, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३, दरियागंज, दिल्ली, सं० १६७४, पृ० ५।
31. कविता क्या है (चिन्तामणि भाग—१), रामचन्द्र शुक्ल, इण्डियन प्रेम प्रा० लि०, इलाहाबाद, सं० १६६१, पृ० ६७।
32. वही, पृ० १०६।
33. वही, क्रोध, पृ० ६४।
34. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की विचार वीथी, सम्पा० विष्णुचन्द्र शर्मा, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, सं० २००७, पृ० १५—१६।
35. चिन्तामणि भाग—१, (साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद) रामचन्द्र शुक्ल, सं० १६६१, पृ० १५७।
36. क्रोध, पृ० ६५।
37. वही, लज्जा और ग्लानि, पृ० ४०।
38. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१०, पृ० ३६।
39. वही, पृ० ७६।
40. श्रद्धाशक्ति, (चिन्तामणि भाग—१), रामचन्द्र शुक्ल, इण्डियन प्रेस प्रा० लि०, इलाहाबाद, सं० १६६१, पृ० २२।
41. वही, भाव या मनोविकार, पृ० ३।
42. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की विचार वीथी, (आचार्य शुक्ल की भाषा, लेख— विश्वनाथ त्रिपाठी), सम्पा० विष्णुचन्द्र शर्मा, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, सं० २००७, पृ० १६७।
43. हिन्दी साहित्य का इतिहास (भक्तिकाल—ज्ञानाश्रयी शाखा), आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१०, पृ० ४५।
44. वही, घनानंद, पृ० १८५।
45. वही, घनानंद, पृ० १८६।
46. वही, पृ० १८६।
47. वही, पृ० १८७।
48. वही, पृ० १८७।
49. वही, निराला, पृ० ३८७।
50. प्रेमधन सर्वस्व की भूमिका), आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की विचार वीथी, सम्पा० विष्णुचन्द्र शर्मा, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, सं० २००७, पृ० ३६।
51. आचार्य शुक्ल विचार कोश, अजित कुमार, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३, दरियागंज, दिल्ली, सं० १६७४, पृ० ६।
52. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की विचार वीथी, सम्पा० विष्णुचन्द्र शर्मा, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, सं० २००७, पृ० २६३।
53. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१०, पृ० २८६।

★

आदिवासी समुदाय का सामाजिक-शैक्षणिक परिवेश

सुधीर कुमार तिवारी*

'आदिवासी' शब्द मात्र से ही वनवासी–समुदाय के बिम्ब–प्रतिबिम्ब हमारे मम में उभरने लगते हैं। क्या वास्तव में जो मनुष्य जंगल में रहते है, वो आदिवासी हैं? अगर हां, तो मनुष्य–समाज के प्रति यह भेद–भाव कैसा? और अगर नहीं, तो आदिवासी हैं कौन? रमणिका गुप्ता के अनुसार **''पर्यावरण में रहने वाला, एक सी बोली बोलने वाला, समान जीवन शैली से सजा, एक से देवी देवताओं को मानने वाला, समान संस्कृति जीवन यापन करने वाला परन्तु अक्षर ज्ञान रहित मानव समूह को आदिवासी शब्द से सम्बोधित किया जा सकता है''**[1] लेकिन वीरभारत तलवार जी कहते है कि ऐसी कोई मुकम्मल परिभाषा नहीं है और न ही वर्तमान परिस्थिति में बनाई जा सकती है– कि आदिवासी कौन है? क्योंकि आदिवासी प्रकृति के बीच रहने वाला ऐसा व्यक्ति है जिसने अपने रहन–सहन के तौर–तरीके तथा क्रिया कलाप प्रकृति से सीखा है।

आदिवासी समुदाय में बोली, सभ्यता, संस्कृति आदि की अनेकता उनकी आपसी एकता के बीच अलगाव पैदा करती है। इस कारण से आदिवासियों का अपना कोई एक मसीहा नहीं बन पाया। लेकिन जब जब सभ्य समाज द्वारा बनाए गए मापदण्ड़ और स्थापित आदर्श, अपने आप को स्थापित करने के लिए दूसरें कमजोर वर्ग की हीनता की बेड़ी में जकड़ने का प्रयास करता है। तब तब परिवर्तन की चिंगारिया सुलगती हैं; चाहे जो भी समाज रहा हो। इस बात का साक्षी इतिहास भी है कि **''गुलाम भारत के इसिहास में, स्वतंत्रता की लड़ाई में ख्वाजा नाईक, टट्या भील, रामदास महराज, भाजोजी नाईक, बिरसा मुण्डा, रानी दुर्गावती इत्यादि अनेक आदिवासी क्रान्तिवीर बिट्रिश राज्य कि विरूद्ध जूझते रहें।''**[4] भारतीय स्वतंत्रता की कहानी 1857 के सैनिक विद्रोह के पूर्व ही घटित हो चुकी थी। यह संग्राम (30जून1855) संथाल हूल या संथाल विद्रोह के रूप में अंग्रजों के साथ–साथ प्रत्येक शोषण करने वालों के खिलाफ था। कुछ इसी तरह से राजस्थान में भील विद्रोह हुआ। जिसका नेतृत्व गोविन्द गुरू ने किया तो दूसरी ओर छत्तीसगढ़ के बस्तर जिले में 1857 में आदिवासी आन्दोलन का नेतृत्व शहीद वीर नारायण सिंह द्वारा हुआ और झारखण्ड़ में 1910 के आदिवासी आन्दोलन का नेतृत्व गुन्डाधुर के द्वारा होता है। इस प्रकार आदिवासियों द्वारा अलग अलग जगहों में अलग अलग तरीके से शोषण के विरूद्ध कई विद्रोह हुए। जिनमें कुछ महत्वपूर्ण विद्रोह इस प्रकार है। **छत्तीसगढ़ में** हलवा विद्रोह 1774, भोपाल पट्नम संघर्ष 1795, परलकोट विद्रोह 1825, तारापुर विद्रोह 1842, मुरिया विद्रोह 1876, **झारखण्ड़ में** संथाल विद्रोह 1756 में, मुण्डा विद्रोह 1895, **राजस्थान में** भगत आन्दोलन 1883, एकी आन्दोलन/भोमट आन्दोलन 1821–23, **''आदिवासियों का विद्रोह देश में आजादी के लिए छिड़े आन्दोलन से पहले शुरू हुआ था।.....लेकिन ये विद्रोह अलग अलग स्थानों में अलग अलग लोगों द्वारा किए जाने के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन नहीं बन पाया''**[2]

आदिवासी समाज अंग्रेजों की औद्योगिकीकरण की दासता से मुक्त रहें हैं और प्रकृति में स्वतंत्र विचरण करते रहे हैं क्योंकि प्रकृति ही उनका मन्दिर, पहाड़ उनके देवता, स्वतंत्रता उनकी

*** शोधार्थी, शिक्षा विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र।**

भक्ति रही हैं। इसलिए आदिवासी ने अपनी भक्ति के लिए अंग्रेजों, जमींदारों, एवं साहूकारों से किसी भी प्रकार का समझौता नहीं किया। परन्तु सांस्कृतिक सम्पर्क तथा आत्मसात्करण की प्रक्रिया ने आदिवासी समाज को विशेष प्रभावित किया है और औद्योगिकीकरण ने आदिवासी किसानों को उनकी अपनी ही भूमि से बेदखल कर सर्वहारा, मजदूरों की जमात में लाकर खड़ा कर दिया। क्योंकि बड़ी—बड़ी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिये आदिवासियों की जमीनें छींनने में बड़े—बड़े महाजन एवं साहूकारों सहायक रहें हैं। व्यापारियों, ठेकेदारों, महाजनों ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये इन आदिवासी समाज की अज्ञानता, विवषता, पिछड़ेपन और अशिक्षा आदि का लाभ उठाकर खूब शोषण किया है। साथ ही आजादी के बाद केन्द्र में आई सरकारों ने आधुनिकता की चमक और विकास की हडबडी में आदिवासियों के संरक्षण सम्बन्धी जिम्मेदारियों को भूला दिया। इसी कारण से आदिवासी समाज का शोषण, स्वार्थों की नीति, सिद्धान्त और कानून के काले साए में हुआ है। औद्योगिकी विकास 'ये दिल मांगे मोर' की तरह आदिवासियों से उनके खेत, वन, प्राकृतिक संसाधनों को छीनकर उनका दोहन कर रहा है। आदिवासी समुदाय अपनी प्राकृतिक संसाधन की रक्षा के लिए औद्योगिक विकास से लगातार लोहा ले रहे हैं, और अपनी संस्कृति, सभ्यता, विरासत की रक्षा के लिए संघर्ष कर रहें है। ''**वे अपने अस्तित्व के साथ संघर्ष तब से कर रहे हैं, जब से तथाकथित आधुनिक सभ्यता के ध्वजावाहकों ने उनके समाज में घुसबैठ की**''[3] वर्तमान समय में सबसे अधिक संघर्षरत् आदिवासी समाज है; क्योंकि देश की सरकारें और मुख्य धारा के समाज का रवैया उनके प्रति जो देखने को मिल रहा है, वह अमानवीय और क्रूर प्रतीत हो रहा है। जो कभी सकारात्मक नही हो सकता है। यहां तक वर्तमान में आदिवासियों की स्थिति बाहर से आये शरणार्थियों से भी गई गुजरी प्रतीत होती हैं। ऐसा लगता है जैसे देश की धरती पर आदिवासियों का हक नहीं हैं; जबकि सच यह है कि ये आदिवासी ही इस भूमि के आदि निवासी हैं यानी मूल निवासी हैं।

आदिवासियों का जीवन सदैव ही संघर्षों एवं समस्याओं से घिरा रहा है, लेकिन लोकतंत्रीय व्यवस्था ने जहाँ आदिवासियों को सार्वजनिक जीवन के साथ जोड़ा है, वहीं इस समाज के लोगों में अनेक नवीन समस्याएं ने जन्म लिया है; क्योंकि अधिकांश आदिवासी देश के दूरस्थ सघन वनों, जंगलों और पहाड़ियों में एकाकी जीवन व्यतीत करते हैं। इस कारण आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा, यातायात और संचार के साधन आज भी सहज व सुगम नहीं हो पाए हैं। जिसके फलस्वरूप इन लोगों के जीवन यापन में अनेक समस्याओं का उत्पन्न होना स्वाभाविक माना जा सकता है। वर्तमान समय में शहरों की चकाचौंध और उनके रहन—सहन ने एक तरफ इन्हें प्रभावित किया है तो दूसरी तरफ कुछ आदिवासी समुदाय आज भी शहरों से अपना संपर्क नहीं स्थापित करना चाहते हैं और आज भी अपने को उस तथाकथित सभ्य समाज से नही मिलना चाहते हैं, और न ही उनकी संस्कृति में ढ़लना चाहते हैं। दूरस्थ जंगलों में निवासरत् अधिकांश आदिवासी समाज शहर से दूर एकांत अवस्था में आज भी रहने के इच्छुक हैं । परन्तु कुछ आदिवासी समाज ऐसे भी है जो न तो अपनी संस्कृति छोड़ पाते है और न ही उस तथाकथित समाज को आत्मसात ही कर पाते हैं। जिससे उनकी स्थिति त्रिशंकु की भांति हो गई है और अधर में लटके हुए हैं।

अगर देखा जाए तो दलित समाज ने अपने लिए एक मसीहा डॉ. अम्बेडकर के रूप मान लिया है। परन्तु आदिवासी समुदाय के लोगों द्वारा अपने लिए किसी एक मसीहा का चुनाव नही सकें। इसी कारण आदिवासी समाज में, राष्ट्रीय चेतना के रूप में अभी भी आवश्यक प्रतिरोधात्मक

क्षमता का अभाव है। आदिवासियों का असभ्य मान लेना उसी तरह शोषण का अधिकार है जैसा की भारतीयों को असभ्य मानकर किया गया। **"वास्तव में आदिवासियों की अपनी सरलता और अज्ञानता अभिशाप सिद्ध हुई है। गैर आदिवासियों के चलते अपनी चल अचल सम्पत्ति खोने के साथ ही साथ आदिवासियों ने अपना नैतिक बल, साहस विरोध और प्रत्याक्रमण की क्षमता खो दी है"**[5] उनका शहरी जीवन में कोई आकर्षण नही हैं। उनकी अपनी दुनियां घने जंगल, पर्वतों और घाटियों तक ही सीमित है, लेकिन आधुनिक विकास ने उनकी विरासत पर ग्रहण लगा दिया, **"समयसिद्ध मूल्यों, भोलापन, ईमानदारी, स्पष्टता, उन्मुक्त हँसी और स्वस्थ्य मानवीय सम्बन्धों का विकृत बनाकर उसकी जगह आधुनिक दुर्गुणों और अश्लीलता को स्थापित कर एक समग्र गौरव योग्य संस्कृति का अवमूल्यन कर दिया गया"**[6] हमें अपने आदर्शों को उन्हें समझाने और उसी कसौटी पर उनके जीवन को कसने के बदले उनके आदर्शों को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। आदिवासियों की बहुत सी बातों को बुरी और निरर्थक समझाने वाले लोगों को ये बात नहीं भूलना चाहिए कि आदिवासी भी उन सभ्य कहलाने वालों की भी बहुत सी बातों को हीन और निरर्थक मानते हैं।

आदिवासियों की भी एक अपनी भाषा, सभ्यता और संस्कृति होती है। **"आदिवासी एकता के लिए एक सम्पर्क भाषा का होना अत्यन्त जरूरी है ताकि वे एक दूसरे को भली–भांति समझ सकें। आदिवासी नेतृत्व को इस दिशा में काम करना होगा, तभी एकता कायम होगी और उसकी आवाज राष्ट्रीय स्तर पर उठाने में आसानी होगी"**[7] भाषा और संस्कृति का एक दूसरे घनिष्ठ सम्बन्ध है; क्योंकि **"जिन लोगों की भाषा छिन जाती है, उनकी संस्कृति नहीं बच पाती और जिन लोगों की संस्कृति खत्म हो जाए जो उनकी पहचान भी खत्म हो जाती है।"**[8] मातृभाषा के माध्यम से ही हम अपनी बात को दूसरे तक पहुंचाने और दूसरे की बात को ग्रहण करने की क्षमता का विकास कर पाते है। जिससे सूक्ष्मता के साथ आदिवासी जीवन, सामाजिक परिवेश, सांस्कृतिक परम्परा और आर्थिक स्थिति आदि को देखा, परखा व समझा जा सकता है।

सरकार द्वारा प्रोत्साहन, अनुदान और जनजातीय लोगों से संबंधित प्रसंग में सुधार हेतु समय–समय पर कार्य किए जाते रहे हैं। इसका एक विश्वव्यापी अवधारणा मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा के रूप में परिणित होता हैं। **"साहित्य अकादमी ने जनजातीय विद्वानों, संपादकों, संग्राहकों, नाटक करने वालों या अनुवादकों; जिन्होंने जनजातीय भाषाओं के प्रसार, शोध और समृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान दिया है, के लिए 'भाषा सम्मान' नामक पुरस्कार देना आरम्भ किया है। कोकबोरोक, खासी, संथाल, लद्दाखी, भील, लेपचा जैसे आदिवासियों को उनकी मूल्यांकन कृतियों के लिए भाषा सम्मान पुरस्कार दिया जा चुका है"**[9] निश्चय ही आदिवासियों के सन्दर्भ में काफी बदलाव हुए, उनके लिए विकास के नाम पर कई योजनाओं का क्रियान्वयन हुआ, करोड़ों अरबों रूपया इस विकास की गंगा में खर्च किया गया; लेकिन उनका कायाकल्प हुआ क्या? सुनील मिंज अपने लेख में '**शिक्षा में विकास कम और दोहन अधिक**' में लिखते हैं कि **"प्राथमिक स्तर पर बच्चों की शिक्षा मातृभाषा में हो जैसे संवैधानिक प्रावधानों के बावजूद झारखण्ड़ क्षेत्र के प्राथमिक स्कूलों में मातृभाषा के माध्यम से पढ़ाई की शुरूआत नहीं की गई। आकड़ों के आधार पर 11,572 (ग्यारह हजार पांच सौ बहत्तर) गांवों में 50 फीसदी से ज्यादा आदिवासी बाहुल्य गांव है। सरकारी आदेश 53/56 में कहा गया है कि विद्यालय में दस से अधिक मातृभाषा पढ़ने वाले छात्र रहेगें तो एक शिक्षक की व्यवस्था की जायेगी। उसी प्रकार जिस गांव में 25 फीसदी से अधिक आबादी**

आदिवासियों की हो जो आदिवासी भाषा की पढाई होनी चाहिए, लेकिन ऐसा नहीं हुआ।''[10] गांधी जी के अनुसार शिक्षा मनुष्य के जन्मजात अन्तर्निहित गुणों का सर्वांगीर्ण विकास करती है लेकिन आश्चर्य ही नहीं खेद भी होता है कि भाषा, सभ्यता और संस्कृति के कारण भारतवर्ष का एक बड़ा जनसमुदाय इस अनिवार्य शिक्षा के लाभ से वंचित है। आदिवासियों की स्थिति एवं अवस्थिति के संबंध में इतिहास और इतिहासकार मौन रहे हैं।

वर्तमान चिन्तकों, दार्शिनिकों, मानवशास्त्रियों, इतिहासकारों और साहित्यकारों, को आदिवासियों की समस्याओं के विभिन्न पहलुओं पर सही ढंग से प्रकाश डालने का प्रयास किया जाना चाहिए और उनका ध्येय यह रहना चाहिए कि कहीं भी आदिवासियों की संस्कृति, सभ्यता, विरासत के साथ कोई खिड़वाड न हो। आदिवासियों की संघर्षगाथाओं और समस्याओं को एक व्यापक संदर्भ में देखने का प्रयास होना चाहिए। आदिवासियों की अस्मिता एवं अस्तित्व को बचाने की जिम्मेंदारी समस्त भारतीयों का धर्म बन जाता है क्योंकि इस संस्कृति और सभ्यता की विरासत केवल आदिवासी समाज की नहीं अपितु सम्पूर्ण देश की है। अतः आदिवासी समाज के निरपेक्ष मूल्यांकन हेतु उनकी विरासत का मूल्यांकन किया जाना अति आवश्यक है।

'लिखो कि रंग है जो भी, नजर में वह कच्चा है।
जो दर्द है सांसों में , वों ही सच्चा है।
ये इक दर्द ही संघर्ष भी है, ख्याब भी है।
लिखों कि ये ही अधेरों का महताब भी है।।'

सन्दर्भ–सूची :–

1. आदिवासी कौन, संपा. रमणिका गुप्ता, राधाकृष्णन प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2008, पृ. 26
2. वहीं, 16।
3. वहीं पृ. 8।
4. आदिवासी समाज और शिक्षा, संपा. रामशरण जोशी, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, संस्करण 2004, पृ. xxiii।
5. वहीं, पृ. 10।
6. वहीं, पृ. पृ. xv।
7. आदिवासी कौन, संपा. रमणिका गुप्ता, राधाकृष्णन प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2008, पृ. 07।
8. वहीं पृ. 8।
9. आदिवासी भाषा और शिक्षा, संपा रमणिका गुप्ता, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ. 80।
10. वहीं, पृ. 94।

हिन्दी काव्य-धारा में गंगा का मूल्य-प्रबोध

डॉ. निशा शर्मा*

शोध सारांश : माँ सदानीरा जो अपनी विरलता और स्निग्धता से परिपूर्ण होकर वैदिककाल से पूजनीय रही है, वर्तमान में उनकी दशा को देखकर व्यथा एवं पीड़ा के साथ दया का भाव भी उपजता है। हिन्दी काव्यधारा के रचनाकारों द्वारा सदैव से वंदनीय 'माँ गंगा' साहित्य रूपी सागर में समाहित होती रही हैं। साहित्यकारों ने उनके स्वरूप निदर्शन में व्यापक फलक पर अपनी उद्भावनाओं को उद्भाषित करते हुए अपनी लेखनी की गहरी पिपासा को गंगा के प्रति आस्था एवं विश्वास के साथ प्रकट किया। मानवीकृत जीवन मूल्यों के संवर्धन में माँ गंगा की भूमिका नगण्य है। दैहिक–दैविक और भौतिक तापों का हरण करने वाली माँ गंगा स्वास्थ्य सम्बन्धी मूल्यों के संरक्षण से लेकर आमोद–प्रमोद, साहचर्य, संघ संस्था, आर्थिक लाभ, ज्ञान व सत्य परक बौद्धिक मूल्य, सौन्दर्य परक मूल्य, भद्रता एवं सद्गुण से युक्त चरित्र्य परक मूल्य और पुण्य कार्यों के सम्पादन सम्बन्धी धार्मिक मूल्यों की रक्षक किस प्रकार से हैं? इस शोधपत्र द्वारा गंगा के इसी मूल्य प्रबोध को स्पष्ट करने एवं साहित्य में उनके स्वरूप को दर्शाने का मेरा मौलिक प्रयास है। हिन्दी काव्य धारा जो आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक निरन्तर गतिशील है उसमें माँ गंगा की निर्दशना साहित्य रचनाकारों ने जिस प्रकार से किया, वह अद्भुत है। गंगा की प्रतिष्ठा में हिन्दी काव्य धारा के समूल योगदान को इस शोध द्वारा समझा जा सकता हैं।

कूट–शब्द : सदानीरा, अविरलता, स्निग्धता, परिपूर्ण, उपजता, वंदनीय, समाहित, निदर्शन, फलक, उद्भावनाओं, उद्भाषित पिपासा, गतिशील।

सत्य और सुन्दर को समाहित करने वाला साहित्य लोक कल्याण के व्यापक धरातल पर सदैव से पल्लवित एवं विकसित होता रहा है। आदिकाल से लेकर वर्तमान तक के साहित्यकारों ने सत्यं, शिवं और सुन्दरम के भाव का पोषण जगत–कल्याण के महती उद्देश्य की पूर्ति हेतु किया हैं। 'स' अक्षर से 'स्व' अर्थात आत्मनः कामम्य की भावना से जहाँ 'आनन्द' पोषित है वहीं 'स्व' के विपरीत सर्व में कल्याण पोषित है। साहित्य के मूल में आनन्द और कल्याण दो हेतु स्थित हैं, आध्यात्मिक मूल्य का आधार आत्मिक आनन्द है तो शारीरिक सुख का आधार विषयों का आनन्द जिससे हमारी इन्द्रियाँ सन्तुष्ट रहती हैं। हिन्दी काव्य में कहा भी गया है कि–

समरस थे जड़ या चेतन सुन्दर साकार बना था
चेतना एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था।[1]

इन्द्रियों के द्वारा ही हमारे आचरण और व्यवहार का आंकलन होता है जिसका समूही कृत रूप मूल्य की धारणा में निहित है। पाश्चात्य विचारक डब्ल्यू0 एम0 अर्बन की मूल्य सम्बन्धी तीन बाते हैं जो गंगा के परिप्रेक्ष्य में सटीक बैठती हैं।

1. जो मानवीय इच्छा की पूर्ति करे वही मूल्य है।
2. मूल्य वह वस्तु है जो जीवन को सदैव विकास की ओर ले जाए।

*** सहायक अध्यापिका, हिन्दी विभाग, गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।**

3. वही मूल्य अंतिमरूप से तथा स्वलक्ष्य दृष्टि से मूल्यवान है जो कि व्यक्तियों को विकास अथवा आत्मविकास या आत्मानुभूति की ओर ले जाती हैं।[2]
   गंगा जी सभी का मनोरथ पूर्ण करने वाली, जीवन को गति देने वाली एवं आत्म अनुभूति कराने वाली एक नदी नहीं है बल्कि वह भारतीय संस्कृति की ऐसी संवाहिका हैं जिसमें आस्था, श्रद्धा, विश्वास, कर्म, मोक्ष आदि की लहरों का समावेश है। ये स्वयं ही संस्कृति स्वरूपा एवं संवाहिका हैं।

आत्म अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन साहित्य है साहित्य के साथ संगीत, कला आदि मूल्यों का निकष समय–समय पर वर्णित होता रहा है। हिन्दी साहित्यकारों ने गंगा के जिस स्वरूप का दर्शन अपनी काव्यधारा में किया है उसे स्पष्ट करने के लिए मैने डब्ल्यू0जी0 एवरेट (पाश्चात्य विचारक) द्वारा बताएं गए मूल्यों को आधार बनाया है। एवरेट के अनुसार मूल्य दो प्रकार से हैं– निम्नतर मूल्य और उच्चतर मूल्य।

निम्नतर मूल्य–	**उच्चतर मूल्य–**
मनोरंजन परक (क्रिड़ा, आमोद आदि)	बौद्धिक (ज्ञान, सत्य)
शारीरिक (स्वास्थ्य)	सौन्दर्य मूलक (कला)
सामाजिक (साहचर्य, संघ, संस्था)	चारित्र्य (भद्रता, सदगुण)
श्रममूलक (आर्थिक तथा अन्य)	धार्मिक (पुण्य)[3]

ऋग्वेद, विष्णुपुराण, श्रीमदभागवद, कूर्मपुराण, पदमपुराण, नारद पुराण, शिवपुराण, अग्निपुराण, महाभारत, मेघदूत, कुमार सम्भव आदि में गंगा के पौराणिक एवं धार्मिक स्वरूप की चर्चा अधिक हुई है। हिन्दी साहित्यकारों ने परम्परानुगामी होते हुए भी कुछ हद तक गंगा के लिए नई भावनाओं का उद्बोधन किया है, जिनमें उपयुक्त वर्णित मूल्यों का दिग्दर्शन होता है। हिन्दी साहित्य में आदि काल की काव्यधारा में गंगा का उल्लेख मिलता है। 'मैंथिल कोकिल' के नाम से विख्यात आदिकालीन कवि विधापति की वाग्धारा में माँ गंगा के लिए इस प्रकार स्तवन किया गया–

बड़ा सुख सार पाओल तुअ तीरे, छोड़इत निकट नयन बह नीरे।
कर जोरि बिनमओ विमल तरंगे, पुन दरसन होए पुनमति गंगे।[4]

गंगा के किनारे आकर अत्यन्त सुख पाने की बात कवि करते हैं। वो सुख दैहिक, दैविक और भौतिक तीनों प्रकार के हो सकते हैं। हिन्दीं के सिद्ध साहित्यकारों में कण्हपा के एक पद में गंगा शब्द का प्रयोग हुआ है जो बौद्धिक मूल्यों का प्रबोध कराता हैं। कण्हपा की इस वाणी में ज्ञान और सत्य का रहस्य छुपा है। उन्होंने जउॅना (यमुना) को प्रतीक रूप में दर्शाया है।

गंगा जउँना माझे बहइ रे नाई।
(इड़ा, पिंगला के बीच सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से शून्य देश की ओर यात्रा)[5]

वीरगाथा काल के प्रसिद्ध कवि जगनिक द्वारा लिखा गया 'परमाल रासो' जिसे 'आल्हाखण्ड' नाम से भी जाना जाता है में गंगा, जमुना और सरस्वती के संगम का उल्लेख हैं जिसमें सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा हुई है साथ ही इन नदियों के संगम में चारित्र्य मूल्य भी झलकता है।

प्रागराज सो तीरथ ध्यावौं, जहँ पर मातु गंग लहराय।
एक ओर से जमुना आई, दोनों मिली भुजा फैलाय,
सरस्वती नीचे से निकली, तिरबेनी सो तीर्थ कहाय।[6]

भुजा फैलाकर गले मिलने में जिस आत्मीयता का परिचय कवि ने दिया वह अपने सगे सम्बन्धियों की याद दिलाता है। तीनों नदियों गंगा, जमुना और सरस्वती के आत्मिक सम्बन्ध का

परिचय प्राप्त होता है। हिन्दी साहित्य की भक्ति काव्य धारा में गंगा जी सदैव सम्मानित रही हैं कवियों का उनके प्रति गहरी आस्था और विश्वास है। वे कहीं सदानीरा से याचना करते दिखाई देते है तो कही उनके सौन्दर्य का गुणगान करते हैं।

गंगा के उच्चतर मूल्यों की प्रतिष्ठा भक्तिकाल के हिन्दी रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में किया है। कबीरदास यद्यपि सिद्धों के पूरे प्रभाव में तो नहीं रहे किन्तु सिद्धों की काव्यगत विशेषताएँ इन्हें सिद्ध रचनाकारों के साहित्य द्वारा ही प्राप्त हुई। रहस्यात्मकता से परिपूर्ण कबीर की वाणी में श्रममूलक मूल्य दृष्टिगोचर होता हैं।

गंगा तीर मोरी खेती बारी, जमुन तीर खरिहाना।
सातौं बिरही मेरे निपजै, पंचू मोर किसाना।।[7]

कृष्ण की परमभक्त मीराबाई ने अपने पदों में अनेक स्थलों पर गंगा का स्मरण किया हैं। स्वास्थ्य सम्बन्धी मूल्यों को मीरा की निम्न पंक्तियों में स्पष्ट देखा जा सकता है।

चलो मन गंगा जमना तीर,
गंगा जमना निरमल पाणी, सीतल होत सरीर।[8]

मर्यादा पुरूषोत्तम श्रीराम के चरित का गुणगान करने वाले मानसकार कवि शिरोमणि महाकवि तुलसीदास ने श्रीराम चरित मानस में कई स्थलों पर गंगा के सकल मूल्यों का निदर्शन करते हुए उनके रूप को साकार किया है।

उतरे राम देवसरि देखी। कीन्ह दंडवत हरषु विसेखी।
गंग सकल मुद मंगल मूला। सब सुख करनि हरनि सब सूला।।.........
कहि कहि कोटिक कथा प्रसंगा। राम बिलोकहि गंग तरंगा।
सचिवहि अनुजहि प्रियहि सुनाई। बिबुध नदी महिमा अधिकाई।[9]

गोस्वामी तुलसी दास ने गंगा की विशद स्तुति 'विनय पत्रिका' में पद संख्या 17, 18, 19 एवं 20 में किया हैं। जिसमें भगीरथनन्दिनि को नर, नाग और देवताओं द्वारा वन्दनीय बताया है। गंगा को तीनों तापों को हरने वाली, त्रिपथ गामिनी कहा गया। चारित्र्य प्रदान करने वाली कहा गया, सबको पालने वाली कहा गया, जिसका अति विस्तार के दृष्टिकोण से यहां उतना वर्णन अपेशित नहीं है, कुछ अंश है– **ईस सीस बसीस त्रिपथ लसीस, नभ–पाताल–धरनि।**
सुर–नर–मुनि–नाग–सिद्ध सुजन मंगल करनि।[10]

विनय पत्रिका में देवी गंगा के महात्म्य का विशद वर्णन है। रहीमदास जी गंगा को शंकर की तरह सिर पर धारण करने की बात करके उन्हें श्रेष्ठ स्थान देने की इच्छा रखते हैं न कि विष्णु की तरह अपने पदों में– **अच्चुत चरण तरंगिणी, शिव सिर मालतिमाल।**
हरि न बनायों सुरसरी, कीजो इन्दव भाल।।[11]

हिन्दी रीतिकालीन काव्य धारा में पदमाकर, सेनापति, गिरधरदास कवि रसखान आदि कवियों की रचनाओं में गंगा के मूल्य की निदर्शना हुई है। पदमाकर द्वारा लिखित 'गंगा लहरी' की रचना कुष्ठ रोग से मुक्ति पाने के लिए की गयी थी यहाँ गंगा का स्वास्थ्य सम्बन्धी मूल्य दृष्टत्य है। सम्पूर्ण काव्य रचना गंगा स्तुति एवं उनके गुणगान का वर्णन करता है–

जैसी छवि गंगा की तरंगन में ताकियत,
तैसी छवि छीर में न छीरधि के छन्द में।[12]**.......**
छेम की छहर गंगा रावरी लहर
कलिकाल की कहर, जमजाल की जहर हैं।[13]

गंगा का मनोहारिणी रूप कलिकाल (असमयिक मृत्यु) को दूर कर देने वाला है, जो जीवन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है और स्वास्थ्य की दृष्टि से हितकर भी। शिव विवाह में गंगा उनकी जटाओं में हंस रही हैं। पदमाकर अपने छन्द में गंगा का वर्णन करते हुए कहते हैं।

सीस पर गंगा हंसे, भुजनि भुजंगा हंसै।
हास ही को दंगा भयों, नंगा के विवाह में।।[14]

मुस्लिम कवि रहीमदास के अतिरिक्त कवि रसखान की भक्ति भावना, हिन्दी काव्य की श्रेष्ठ सम्पदा है। रसखान कृष्ण के उपासक थे। देवी गंगा का वर्णन उनके काव्य में भी मिलता है। हिन्दू देवी देवताओ के प्रति रसखान की गहरी आस्था थी।

गंगा जी में न्हाइ, मुक्ताफल हू लुटाइ वेद। [15]

कवि रसखान हास्य रस की सर्जना के साथ–साथ शिव जी का यह विश्वास गंगा के प्रति दिखाने का प्रयास करते हैं कि शिव आक, धतूरा इत्यादि विषैली वस्तुएं ना खाने योग्य पदार्थ इसलिए खाते हैं क्योंकि उन्हें भरोसा है कि उनकी जटाओं में निवास करने वाली गंगा उस विष के ताप को नष्ट कर देंगी अर्थात शंकर ने भी गंगा रूपी नारी पर भरोसा और विश्वास बना रखा है। यह विश्वास भारतीय परम्परा से भी जुड़ती है–

वेद की औषद खाई कछू न करै बहु संजम री सुनि मौसें।
तो जलपान कियौ रसखानि सजीवनि जानि लियो रस तोसे।
ए री सुधामई भागीरथी नित पथ्य अपथ्य बनैं तोहि पोसे।
आक–धूतूरो चबात फिरैं विष खात फिरैं शिव तेरे भरोसें।[16]

रीतिकालीन रचनाकार कवि गिरधर दास ने गंगा का गुणगान इन शब्दों में किया–

जम की सब त्रास विनास करी सुख से निज नाम उच्चारण में।
सब पाप प्रतापहि सूर दियों, तुम आपन आप निहारन में।
अहो गंग–अनंग के शत्रु करें, बहुनेक जलै सुख डारन में,
गिरिधारन जू कितने बिरजे, गिरिधारन धारन धारन में।[17]

आधुनिक कालीन रचनाकारों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्रीधर पाठक, सुमित्रानन्दन पंत, रामधारी सिंह दिनकर, मैथिलीशरण गुप्त हरिवंश राय बच्चन नागार्जुन, अज्ञेय आदि की रचनाओं में श्रद्धा आस्था एवं विश्वास के साथ माँ गंगा का गुणगान हुआ है। भारतेन्दु लिखते है–

नव उज्जवल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूंद मध्य मुक्तामनि पोहति।।[18]

श्रीधर पाठक अपनी रचना 'देहरादून' में गंगा का वर्णन बरवै छन्द में करते हैं–

नमो नमो गिरि तनया अदभुत वारि, सुर मुनि भारत प्रनया अघ तरवारि;
नमो ब्रह्म द्रव रूपिनि प्रेम फुहार, तरल तरंग अनुपिनि गंग सुधार।
तरनि सगर सुअनवा स्वर्ग नसैनि, बसहु सदा मो मनवा सर्वसु दैनि।[19]

प्रकृति के कुशल चितेरे कवि सुमित्रानन्दन पंत की नौका विहार में गंगा बाला की सुकुमारता इस प्रकार वर्णित है

सैकत–शय्या पर दुग्ध धवल तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म विरल,
लेटी है सान्त, क्लान्त निश्चल तापस बाला गंगा निर्मल,
शशि मुख पर दीप्ति मृदु करतल। लहरें उर पर कोमल कुन्तल। [20]

आधुनिक कवियों द्वारा गंगा के स्वरूप निदर्शन में सौन्दर्य मूलक मूल्य की सृष्टि हुई हैं। राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर की रचना 'पाटलिपुत्र की गंगा' में ओजपूर्ण अतीत का स्मरण है जिसमें वे गंगा की तत्कालीन दशा को देखकर, गंगा के मन की मलीनता को भापते हुए कहते हैं–

तुझे याद है चढ़े पदों पर कितने जय सुमनों के हार?
कितनी बार समुद्रगुप्त ने धोयी है तुझमें तलवार। [21]

राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त द्वारा अनुवादित रचना 'शान्तनु के प्रति जान्हवी' में एक पत्नी द्वारा पति को त्यागने की व्यथा है। जान्हवी के विरह में आतुर महाराज शान्तनु उदासीन भाव धारण कर लम्बे समय तक गंगा किनारे रहे, तब गंगा ने अपने पुत्र भीष्म (देवव्रत) के हाथों पत्र भेजकर उन्हें उनके राजा के कर्तव्यबोध को याद दिलाया है। सम्पूर्ण रचना भाव–विभोर कर देने वाली है।

पत्नी मत मानों मुझको।
महिमा असीम है तुम्हारी कुलगान से,
नर कुल राज तुम विश्व में विदित हो,
तरूण अभी हो लौट जाओ राजधानी को।
व्याकुल तुम्हारे बिना होगी हस्तिनापुरी।[22]

मुक्त एवं स्वतंत्र होकर गतिशील रहने वाली गंगा के प्रति जीवन के लगभग सभी मूल्य सदृष्ट हैं। हरिवंश राय बच्चन का गंगा प्रेम अन्य कवियों से अलग है वे गंगा को मुक्त रखने की बात करते हुए शिव से निवेदन करते हैं कि

बाध न शंकर
अपने सिर पर
यह धरती का वर है
गंगा की लहर अमर है।[23]

अज्ञेय जी सदानीरा में लिखते हैं कि–

गंगा कूल किनारे ओ लघु दीप
मूक दूत से जाओ सिन्धु समीप।[24]

हिन्दी साहित्य की जो काव्यधारा आदिकाल से अब तक बहती आ रही है वह गंगा को अपने से विस्मृत नहीं कर सकी है। उपर्युक्त वर्णन में मुख्य रूप से तीन रचनाकारों ने अधिक प्रभावित किया है, पहले रहीमदास, दूसरे मैथिलीशरण गुप्त और तीसरे हरिवंश राय बच्चन ने।

रहीमदास की गंगा के प्रति भावना में यह स्पष्ट होता है कि विष्णु ने गंगा को पैर के नाखून में स्थान देकर अच्छा नहीं किया, उनका अपमान किया, उन्हें शरीर के निम्नभाग में रखा एवं शंकर ने उन्हें सम्मान देते हुए श्रेष्ठ स्थान अपने सिर पर दिया (नारी विषयक दृष्टिकोण से विष्णुका नारी (गंगा) के प्रति हीन भाव दर्शन)।

मैथिली शरण गुप्त की रचना 'शान्तनु के प्रति जाह्नवी में गंगा' का मानवी रूप धारण करने की बात हैं, जिसमें पुत्री, पत्नी और माँ होने का गौरव उन्हें मिला अर्थात नारी जीवन की सार्थकता और पारिवारिक दायित्व का निर्वहन। पर्वत राज हिमालय की पुत्री, राजा शान्तनु की पत्नी एवं देवव्रत अर्थात पितामह भीष्म की माँ के रूप में नारी गौरव से विभूषित हुई गंगा।

तीसरे कवि हरिवंश राय बच्चन की रचना 'त्रिभंगिमा' का एक गीत 'गंगा लहर' जो उत्तर प्रदेश राज्य की लोकधुन पर रचित है, उसमें गंगा को उन्मुक्त रखने की बात है। भगवान शंकर से तथा जन्हु मुनि से कवि का निवेदन है कि न शंकर उन्हें जटाओं में बांधे और न जन्हु ऋषि हठ करके गंगा का प्रशन करें।'' साथ ही इसमें एक पंक्ति आई है कि 'जग में बहुत जहर है' इसका तात्पर्य यह हुआ कि गंगा को धरा पर आना ही नहीं चाहिए था क्योंकि गंगा की निर्मलता, अविरलता, स्निग्धता, पवित्रता आज उस जहर के कारण विषैली हो गयी है जो हम मनुष्यों द्वारा गंगा में प्रदूषण के रूप में गंदगी करके घोला जा रहा है। गंगा के सपूत स्व0 प्रो0 जी0 डी0 अग्रवाल ने (गुरूदास अग्रवाल) जिन्हें स्वामी 'ज्ञान स्वरूप सानंद' के नाम से जाना जाता है गंगा कि लिए 13 जून 2008 से आमरण अनशन करते हुए वर्ष 2018 में 86 वर्ष की आयु में अपने प्राणों का बलिदान कर दिया। वे चाहते थे कि गंगोत्री से उत्तरकाशी तक गंगा अपने नैसर्गिक रूप में रहें। 35 वर्षीय स्वामी निगमानन्द ने भी गंगा के लिए प्राणोत्सर्ग किया, 26 वर्षीय युवा ब्रह्मचारी अबोधानंद स्वामी 194 दिन अनशन पर रहे। इस तरह भारतीय जनमानस में गंगा के प्रति गहरी आस्था रही है।

गंगा की अविरलता एवं निर्मलता को बनाए रखने के लिए अनेक साधक एवं साध्वी तन–मन–धन से समर्पित रहे हैं। गंगा जी अपने वास्तविक सुन्दर, स्वच्छ, स्निग्ध रूप को प्राप्त कर सकें। अपने आंचल के पवित्र प्रेम से भारतीय धरा को पोषित करने वाली माँ गंगा हमारे लिए सदैव वंदनीय थी, वंदनीय हैं और वंदनीय रहेंगी।

संदर्भ–सूची :–

1. जयशंकर प्रसाद– कामायनी– आनन्द सर्ग की अंतिम दो पंक्तियाँ।
2. डॉ हरमोहन लाल– हजारी प्रसाद द्विवेदी का सर्जनात्मक साहित्य, पृ0 06।
3. वही पृ0 32।
4. सेवा चेतना, जनवरी–जून 2014, पृ0 71।
5. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल– हिन्दी साहित्य का इतिहास, कमल प्रकाशन, पृ0 23।
6- https/m bharatdiscovery.org.india
7. श्याम सुन्दरदास– कबीर ग्रंथावली, संस्करण 2009, पृ0153।
8. डॉ0 शिवशंकर मिश्र– जयराम संदेश, वर्ष 01, अंक 01, पृ0 24।
9. श्रीरामचरित मानस– अयोध्याकान्ड, गीताप्रेस गोरखपुर, दोहा0 86 के आगे की चौपाई।
10. डॉ0 लक्ष्मीकान्त पाण्डेय– विनय पत्रिका, ग्रन्थम प्रकाशन, संस्करण 1987, पृ0 78।
11. देशराज सिंह भाटी, रहीम ग्रन्थावली, नमन प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृ 287।
12. सेवा चेतना, जनवरी–जून 2014, पृ0 72
13. डॉ0 लक्ष्मी कान्त पाण्डेय– विनय पत्रिका, ग्रन्थम प्रकाशन संस्करण 1987, पृ0 77
14. कृष्ण देव शर्मा– भारतीय काव्यशास्त्र, पृ0 85
15. देशराज सिंह भाटी, रसखान ग्रन्थावली, प्रथम संस्करण, पृ0 58
16. वही पृ0 59
17. सेवा चेतना, जनवरी–जून 2014 पृ072
18. वही पृ0 72
19. डॉ0 निशा शर्मा–हिन्दी भाषा और साहित्य, प्रथम संस्करण, पृ0 136
20. सुमित्रा नन्दन पंत– तारापथ, लोकभारती प्रकाशन, पृ0 115
21. नन्द किशोर बबल– दिनकर रचनावली–1, लोकभारती प्रकाशन, पृ 65
22. कृष्णदत्त पालीवाल– मैथिलीशरण गुप्त, ग्रंथावली खण्ड–10, वाणी प्रकाशन, पृ0 391
23. हरिवंश राय बच्चन– मेरी श्रेष्ठ रचनाएं, राजपाल प्रकाशन, पृ0 313
24. अज्ञेय–सदानीरा, भाग–1, नेशनल पब्लिकेशन हाउस, कविता सं0 23

असम के हिंदी-भाषी-लोग

डॉ. जाहिदुल दीवान*

हिंदी एक ऐसी भाषा है, जो अपने क्षेत्रों से निकलकर दूर–दूर तक फैल गयी है। वैसे तो इस भाषा के अंतर्गत 17 बोलिया हैं, जिनकी न जाने कितनी ही उपबोलियां मौजूद होंगी! इस दृष्टि से देखा जाए, तो हिंदी को सामूहिक भाषा भी कही जा सकती है। हिंदी भाषा की बोलियों का क्षेत्र मुख्य रूप से उत्तर भारत है। यह बात हम सभी जानते हैं, लेकिन अपने क्षेत्र से बाहर हिंदी कहां–कहां फैली हुई है? इस प्रश्न पर भी गंभीरता से विचार करना आवश्यक है। हिंदी भाषा के भौगोलिक विस्तार को लेकर कई विद्वानों ने अब तक महत्वपूर्ण काम किया है। केवल भारत ही नहीं, भारत के बाहर भी हिंदी किस–किस देश में पहुंची है, उस पर भी विचार–विमर्श किया जा चुका है। उन अध्ययनों से पता चलता है कि भारत के अंदर दो–प्रकार के क्षेत्र हैं, जिसमें हिंदी बोली जाती हैं। पहला है, हिंदी भाषी क्षेत्र और दूसरा है, अहिंदी भाषी क्षेत्र। हिंदी का तीसरा क्षेत्र 'विदेश' है।

प्रस्तुत आलेख में हम 'असम के हिंदी भाषी' लोगों पर बात कर रहे हैं। जैसे कि ऊपर भी कहा गया है– भारत में हिंदी के दो–प्रकार के क्षेत्र हैं। हिंदी भाषी क्षेत्र और अहिंदी भाषी क्षेत्र। इस आलेख की मूल विषयवस्तु अहिंदी भाषी क्षेत्र है। यह सर्वविदित बात है कि अहिंदी भाषी क्षेत्रों में हिंदी गौण भाषा है। उन क्षेत्रों की मातृभाषा कोई दूसरी भाषा होती है। जैसे– असम की भाषा असमिया, बंगाल की भाषा बांग्ला, पंजाब की भाषा पंजाबी, गुजरात की भाषा गुजराती, तमिलनाडु की भाषा तमिल इत्यादि। अहिंदी भाषी क्षेत्रों में हिंदी भाषी जनसंख्या 'भाषायी अल्पसंख्यक' है। ऐसा केवल हिंदी भाषियों के साथ ही नहीं, बल्कि विश्व के किसी भाषा के लोग अपने भाषिक क्षेत्र से बाहर जाकर 'भाषायी अल्पसंख्यक' बन जाते हैं। उल्लेखनीय है कि एक बहु–भाषिक और बहु–सांस्कृतिक समाज के निर्माण में भाषायी अल्पसंख्यकों की भूमिका सबसे अहम होती है।

असम पूर्वोत्तर भारत का एक महत्वपूर्ण राज्य है। शिक्षा, व्यापार, रोजगार, पर्यटन आदि की दृष्टि से यह राज्य उत्तर–पूर्व भारत का प्रवेशद्वार है। दूसरी तरफ यह राज्य अपनी भाषिक अस्मिता और सांस्कृतिक पहचान के लिए विशेष रूप से जाना जाता है। असम में मध्यकाल से बाहरी लोगों के आगमन होने का प्रमाण मिलता है। हालांकि आस्ट्रिक, मंगोलियन, द्रविड़ और आर्य जैसी विभिन्न जातियां प्राचीन काल से इस प्रदेश की पहाड़ियों और घाटियों में समय–समय पर आकर बसीं और यहां की मिश्रित संस्कृति में अपना योगदान दिया। आज वही लोग असम के मूल बाशिंदें माने जाते हैं। मध्यकाल में मुगलों ने असम पर चढ़ाई की थी। उसके बाद औपनिवेशिक काल में अंग्रेजों के हाथ में असम की सत्ता चली जाती है। अंग्रेजों के साथ ही असम का वर्तमान स्वरूप बनना शुरू हो गया था।

कहा जाता है– असम में हिंदी भाषी लोगों का इतिहास दो–सौ साल पुराना है। आज से लगभग दो–सदी पहले ऊपरी असम में सिख लोगों की उपस्थित होने का प्रमाण मिलता है। वहां का

*** पोस्ट डॉक्टोरल फैलो, भारतीय सामाजिक अनुसंधान परिषद्,(ICSSR) नई दिल्ली।**

प्राचीन गुरुद्वारा इसका प्रमाण है, लेकिन इस बात का कोई पक्का सबूत नहीं मिलता कि सिख लोग वास्तव में वहां जाकर बसे कब थे? असम में कई जगहों पर सिखों का गुरुद्वारा मौजूद हैं। उनकी जनसंख्या भी ठीक–ठाक हैं। उल्लेखनीय है कि सिखों की भाषा है तो पंजाबी, लेकिन असम में उनकी पहचान हिंदी भाषी समुदाय के रूप में ही है। दरअसल, असम में उस हर एक जाति के लोगों को हिंदी भाषी कहा जाता है, जो वहां के स्थानीय लोगों से हिंदी में बातचीत करते हैं। सरकारी आंकड़ों की माने, तो असम में कुल हिंदी भाषा–भाषियों की संख्या 5.88 प्रतिशत हैं, जो असमिया (48. 8 प्रतिशत) और बांग्ला (27.5 प्रतिशत) के बाद तीसरे स्थान पर है। उल्लेखनीय है कि असम में बोडो भाषी (4.8 प्रतिशत), नेपाली भाषी (2.12 प्रतिशत) तथा अन्य भाषा–भाषी (11.8 प्रतिशत) लोग रहते हैं। अन्य भाषा–भाषी लोगों में असम की छोटी–छोटी जनजातियां आते हैं। उन जनजातियों का इतिहास असम में सबसे पुराना है, लेकिन उचित समय पर उनका विकास न हो पाने के कारण दूसरी जाति के लोगों ने उनके क्षेत्र पर अधिकार जमा लिया है।

असम के हिंदी भाषी लोगों पर बात करते समय हमें वहां के दूसरे भाषा–भाषी समुदायों पर भी एक नजर डालना चाहिए, इससे कुछ रोचक तथ्य निकलकर सामने आ सकते हैं। इस बात पर गौर करना बेहद जरूरी है कि असम के असमिया भाषी और बांग्ला भाषी लोगों के अलावा बाकी सभी आपस में, हिंदी में बात करते हैं। चाहे नेपाली हो या बोडो– ये लोग बहुत अच्छी असमिया बोलना जानते हुए भी, अपने समुदाय के बाहर के लोगों से हिंदी में ही बात करते हैं। इसी तरह असम की दूसरी जनजाति के लोग भी करते हैं, लेकिन यह भी सत्य है कि वे हिंदी को केवल एक संपर्क भाषा के रूप में अपनाते हैं, जैसे– उन्होंने अंग्रेजी को अपनाया है। लेकिन वे खुद को कभी भी हिंदी भाषी के रूप में परिचित नहीं कराएंगे।

असम के हिंदी भाषी लोगों में तीन धार्मिक समुदाय प्रमुख हैं– हिंदू, सिख और जैन सम्प्रदाय। हिंदू तो धार्मिक दृष्टि से असम के बहुसंख्यक लोगों में आते हैं, लेकिन भाषिक दृष्टि से असम के कुछ हिंदू लोग अल्पसंख्यकों में आते हैं। वर्तमान असम में जितने हिंदी भाषी अल्पसंख्यक मौजूद हैं, उनके पूर्वजों का विभिन्न कारणों से वहां प्रवास हुआ था। शुरू–शुरू वे रोजगार के तलाश में असम गए होंगे। बाद में मौका देख कर वे वहीं बस गएं। असम में आज जितने प्रवासी हिंदू हिंदी भाषी हैं उनमें से प्रायः सभी का मूलनिवास बिहार प्रदेश है। ये लोग बिहारी बोली– मैथिली, मगही, भोजपुरी आदि को बोलचाल के रूप में अपनाते हैं। असम के हिंदी भाषी लोगों ने अब असमिया, बांग्ला आदि भाषाओं में भी बात करना सीख लिया है।

असम में बिहारी हिंदी भाषियों की संख्या सबसे ज्यादा है। इस समुदय के लोग राज्य के कोने–कोने में बसे हुए हैं, लेकिन उनकी सामाजिक स्थिति दूसरे हिंदी भाषियों की तुलना में अपेक्षाकृत बहुत कमजोर है। आज भी असम में उनको निम्न स्तर के कामों से ही पहचाना जाता है। बिहारियों में से जिनका असम में प्रवास हुआ था, वे अपने समाज के दबे–कुचले लोग थे। उनको शुरू से ही केवल जीने भर के साधनों से ही मतलब था। चाय बागान का काम, मजदूरी, सफाई का काम आदि अमस में अधिकांश बिहारियों के रोजगार के साधन थे। उन्होंने शिक्षा–दीक्षा या सामाजिक विकास को कभी वरीयता ही नहीं दी। अपने पूर्वजों द्वारा की गयी इसी गलती की सजा, आज भी नई पीढ़ी के लोग भूगत रहे हैं। आज असम के सर्वाधिक पिछड़े हुए लोगों में बिहारी हिंदी भाषी लोगों की गिनती होती है, जिसके लिए उनको तिरस्कार भरा जीवन जीना पड़ रहा है।

वैसे तो असम में सभी हिंदी भाषियों की सामाजिक स्थिति एक जैसी है, लेकिन उनमें सिख और मारवाड़ी समुदायों को थोड़ा अलग करके देख सकते हैं। इन दो समुदायों की सामाजिक स्थिति बिहारियों की तुलना में थोड़ी बेहतर है। इसका कारण उनका हिंदी भाषी होना नहीं है, बल्कि इसका श्रेय उनकी आर्थिक स्थिति को जाता है। सिख और मारवाड़ी– ये दोनों ही समुदाय असम में व्यापारी वर्ग के रूप में जाने जाते हैं। असम के सकल घरेलू आय में उनकी हिस्सेदारी को कभी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। इसके लिए असम के स्थायी लोग सिख और मारवाड़ियों के ऊपर निर्भरशील हैं। जिस हद तक बिहारियों ने असमिया भाषा एवं संस्कृति को अपनाया हुआ है, उतना सिख और मारवाड़ियों ने नहीं अपनाया। असम में रहते हुए भी उन्होंने अपनी भाषिक और सांस्कृतिक पहचान को खोया नहीं है। दूसरी तरफ मूल असमिया भाषियों ने भी, कभी सिख और मारवाड़ियों से अपनी भाषा–संस्कृति के प्रति चुनौती महसूस नहीं की। केवल राजनीतिक कारणों से इन लोगों को निशाना बनाये जाने को भाषिक विरोध के रूप में देखा जाना ठीक नहीं है। मूल असमिया भाषियों का सर्वाधिक विरोध वहां की दूसरी बड़ी भाषा बांग्ला के लोगों से है। असम के इतिहास में भाषा के नाम पर जिन आंदोलनों के किस्से दर्ज हैं, उनमें से सर्वाधिक असमिया और बांग्ला की वरीयता के मुद्दे को लेकर ही घटित हुए थे।

समय के साथ–साथ लोगों की मानसिक स्थिति में भी बदलाव आता है। जहां असम के अधिकांश बांग्ला भाषी लोगों ने असमिया भाषा को अपनी मातृभाषा की स्वीकृति दी है, वहीं हिंदी भाषी लोगों की सामाजिक अस्मिता की लड़ाई भी जारी है। चाह जनजाति (बिहारी), मारवाड़ी, सिख आदि समुदाय के लोगों ने अपनी भाषा एवं संस्कृति की रक्षा के हित में संगठन बनाया है। उन संगठनों के माध्यम से अपने हित के लिए, कभी–कभी सड़क पर भी आंदोलन किया जाता है। ये स्थिति पहले नहीं थी। पहले तो केवल मूल असमिया भाषियों के हित में जो होते थे, उन्हें ही स्वीकृति मिलती थी। असम में अपने हक के लिए लड़ना किसी भी प्रवासी के लिए मुमकिन नहीं था, लेकिन अब जमाना बदल गया है। सोशल मीडिया के इस दौर में, कोई भी बड़ी आसानी से अपनी अधिकार की बात दूसरों तक पहुंचा सकते हैं। आजकल ऐसा ही देखा जा रहा है। वर्षों से प्रताड़ित असम के बिहारी हिंदी भाषिओं की मांग आज आप कहीं से भी सुन सकते हैं। इसी तरह मारवाड़ी और सिख हिंदी भाषियों ने भी अपनी मांग उठाने का अनोखा तरीका ढूंढ़ निकाला है। इन सबकी जानकारी पाने के लिए आपको एकबार फेसबुक या यूट्यूब खोलकर देखना होगा।

कहानी को छोटी मुँह बड़ी बात कहने वाले नामवर और आलोचनात्मक संदर्भ

डॉ. एम. अब्दुल रजाक*

'दुनिया को बदलने के लिए लेखक अपनी कहानी की दुनिया बदल देता है, दुनिया के नियमों को तोडने के लिए लेखक अपनी दुनिया को दूसरे नियमों से बनाता है।'

– आचार्य नामवर सिंह

कहानी की विधा भारत की देन है। यह विधा बहुत पुरानी है, यह कहानी उपनिषदों, पंचतंत्र और हितोपदेशों में भी है। इन्हीं की माध्यम से वह विदेशों में फैली और विकसित होते हुए अलग–अलग रूपों में धरकर लोक मन में बस गई। आधुनिक कहानी को विदेशों से प्राप्त किया है। यह कहानी आगे बढ़ती हुई विविध रूपों में तब्दील होती गई है। ज्यों–ज्यों कहानी आगे बढ़ती गई त्यों–त्यों उस पर चिंतन करना प्रारंभ होता गया है। आधुनिकता मूल्य बोधक होती है आधुनिकता के मूल्यों में विवेक एक है। विवेक एवं संवेदना के योग का नाम ही आलोचना है। आलोचना का संबंध मूलतः विवेक से होता है। आलोचना में विवेक के आधार पर कृति का मूल्यांकन किया जाता है। आलोचना के विवेक को अर्जित और विकसित करने वाले समर्थ आलोचकों में एक थे आचार्य नामवर सिंह ।

आचार्य नामवर सिंह की कहानी आलोचना पर विचार करने से पहले कहानी आलोचना की परंपरा बोध पर विचार एवं विश्लेषण करना बहुत जरूरी है। यदि बगैर परंपरा बोध के मानने योग्य आलोचना नहीं बन सकती, अगर कही बन भी जाए तो उसमें कहीं न कही गुणवत्ता की कमी दिखाई पड़ती है इससे बचने के लिए परंपरा बोध का होना अनिवार्य है।

हिंदी कहानी आलोचना की परंपरा बोध पर प्रकाश डाला जाए तो जाहिर है कि सन् 1900 में किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'इंदुमति' कहानी को हिंदी का प्रथम कहानी के रूप में माना जाता है। हिंदी कहानी के प्रथम आलोचना पर कई सारे मत भेद है। जाहिर सी बात है कि कौन से मान एवं प्रतिमान होंगे ? इन्हीं करण से ऐसा हुआ है। लेकिन आगे कालांतर में भारतेन्दु काल के प्रसिद्ध आलोचनक पंडित बालकृष्ण भट्ट ने सबसे पहले साहित्य की एक परिभाषा दिया था और उसी परिभाषा के तहत साहित्य का चिंतन एवं मानदंड तय भी किया गया था। उनका माननता था कि 'साहित्य जन समूह के हृदय का विकास है'। उन्हीं मान एवं प्रतिमान के तहत साहित्य का चिंतन भी किया है। यहाँ आधुनिक काल (संवत् 1900) में कई सारे बदलाव हुए है। आधुनिक काल का संपूर्ण साहित्य राजाश्रय से जनाश्रय के साथ जुड़ने के लिए मजबूर होता है। यह आधुनिक साहित्य की देन

*** सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, क्रिस्तु जयंती महाविद्यालय (स्वायत्त), के– नारायणपुरा, कोतानूर पोस्ट, बेंगलूरू, पिन–560077।**

है। यहाँ स्थिति ऐसी हो गई जो असाधारण पर साधारण की विजय है, और अलौकिकता पर लौकिकता की जीत है।

भट्ट जी ने सही कहा था कि कमल को जिस तरह सूर्य की आवश्यकता होती हैं उसी प्रकार साहित्य के जन समूह के लिए आधुनिकता की जरूरत होती हैं। भट्टजी आगे लिखते है– "जैसे कमल को अपने विकास के लिए सूर्य की आवश्यकता है, वैसे ही सभ्यता को अपने विकास के लिए साहित्य की आवश्यकता है और सभ्यता का असर जितना अधिक देश के साहित्य पर पड़ता है और चिरस्थाई रहता हैं उतना किसी दूसरी बात पर नहीं। बिना साहित्य के सभ्यता वैसी ही फीकी है जैसे बिना नोन के भोजन।"[1] भट्टजी का प्रभाव आगे कालांतर में प्रेमचंद के कथा साहित्य में झलकता है।

प्रेमचंद ने अपने कथा साहित्य एवं कथा आलोचना के माध्यम से जासूसी, ऐयारी एवं कल्पना के स्थान पर सामाजिक यथार्थ के साथ जोड़ देते है। प्रेमचंद ने कथा साहित्य का सृजन करने साथ–साथ कथा साहित्य पर चिंतन भी किया है। आगे वे लिखते हैं कि– "जहाँ आनंद है, वहीं सत्य है। साहित्य काल्पनिक वस्तु है पर उसका प्रधान गुण है आनंद प्रदान करना, और इसलिए वह सत्य है। मनुष्य ने जगत् में जो कुछ सत्य और सुंदर पाया है और पा रहा है, उसी को साहित्य कहते हैं और कहानी भी साहित्य एक भाग है।"[2] प्रेमचंद सिर्फ कथा साहित्य में नहीं कथा साहित्य के चिंतन में भी यथार्थ को अधिक महत्व दिया है, वे कहानी को जीवन का यथार्थ मानते हुए लिखते है– "मगर यह समझना भूल होगा कि कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है। यथार्थ जीवन का चित्र तो मनुष्य स्वयं हो सकता है, मगर कहानी के पात्रों के सुख–दुख से हम जितना प्रभावित होते है उतना यथार्थ जीवन से नहीं होते–जब तक वह निजत्व की परिधि में न आ जाय। कहानियों में पात्रों से हमें एक ही दो मिनट के परिचय में निजत्व हो जाता है और हम उनके साथ हँसने और रोने लगते हैं। उनका हर्ष और विषाद हमारा अपना हर्ष और विषाद हो जाता है।"[3] प्रेमचंद जी मानते हैं कि कहानी की गतिशीलता को जीवन की घटनाएँ प्रभावित नहीं करती बल्कि पात्र उसको प्रभावित करते हैं। पात्र अगर गतिशील होगा तो कहानी भी खुद–ब–खुद गतिशील होगी। वे कहानी की वास्तविकता की तलाश करते हुए उसके पात्रों के चरित्र को अधिक महत्व देते हैं। इससे झलगता है कि प्रेमचंद की आलोचना में आदार्शोन्मुक यथार्थावाद की दृष्टि नजर आती है।

हिंदी कहानी पर चिंतन करने की परंपरा आगे विकसित होते हुए प्रेमचंद से जैनेन्द्र कुमार में तक फैल जाती है। जैनेन्द्र ने भी कथा साहित्य का सृजन करने के साथ–साथ कथा आलोचना पर चिंतन किया है। जैनेन्द्र कुमार ने प्रेमचंद की आलोचना दृष्टि को बरकरार रखते हुए मानते हैं कि कहानी जीवन के आरंभ से आज तक कहानी का एक ही उद्देश्य रहा है, जीवन के उपकरणों द्वारा अपने को व्यक्त करन रहा है। यहाँ अनुभूति की आवश्यकता होना बहुत जरूरी है। वही कहानी अधिक सफल मानी जाती जिस में जीवन की मार्मिकता को दर्शाते हुए, सत्य एवं यथार्थ का बोध से जुडे हुए है। उसमें भी सबसे ज्यादा कहानी के पात्रों एवं चरित्र का अधिक महत्व है। जैनेन्द्र कुमार लिखते हैं कि– "अपने चुनाव में मेरा मन कहानी पर ही रहा है, उनकी विधाओं और उपकरणों पर नहीं। उपकरणों पर बल देनेवाली बोध दे सकती है रस नहीं देती। और रस न दे, उसे कहानी किस हिम्मत से कहा जाय।"[4] अर्थात् जैनेन्द्र कुमार मानते हैं कि कहानी में बोध (समझ) एवं रस दोनों का होनी जरूरी समझा है। यहाँ जैनेन्द्र की आलोचना में प्रेमचंद की दृष्टि से देखा जा सकता। वे बोध

को आदर्शवाद और रस को यथार्थवाद से जुडते हैं। इस बात को कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि जैनेंन्द्र ने प्रेमचंद से सहमत होते हुए उनकी परंपरा को आगे बढ़ाया है।

दरअसल कहानी आलोचना की परंपरा विकसित होते हुए नई कहानी के दौर में सशक्त एवं सक्रिया होते हुए अनेक कहानी आंदोलन को जन्म देती है। इन कहानी आंदोलन के समय दो आलोचक उभर कर सामने आए हैं उनमें एक डॉ.देवीशंकर अवस्थी और दूसरे आचार्य नामवर सिंह है। नामवर जी की कहानी की आलोचना शुरू करते से पहले 'आलोचना के मान' में शिवदान सिंह चौहान ने आलोचना की एक गूढ़ बात को प्रस्तुत किया है जो कि हर आलोचक को सुनन के लिए मजबूर करता है ।

वास्तव में आलोचना के संदर्भ में शिवराज सिंह चौहान ने बड़ी मार्मिक बात कही है कि– "आलोचक साहित्य मंदिर का द्वारपाल होता है।"[5] आलोचक अगर द्वारपाल है तो साहित्य मंदिर की रक्षा के साथ–साथ कोई गलत प्रवृत्ति उसमें प्रवेश न करें, यह जिम्मेदारी भी उस पर होती है। आलोचना साहित्य मंदिर की रक्षा करती है, उसकी पूजा नहीं करती। अगर पूजा होगी तो न्याय और सत्य नहीं होगा।

कहानी आलोचना की परंपरा विकसित होते हुए नई कहानी के दौर में सशक्त एवं सक्रिया होते हुए अनेक आंदोलन एवं विमर्शों को जन्म देती है। लेकिन ऐसा माना जाता है कि हिंदी कहानी की आलोचना का सही मानने में इस का नई कहानी के दौर में ही शुरूआत होता है। मुझे जहाँ तक लगता है कि नई कहानी के दौर में नई कहानी पर चिंतन करनेवाले दो सक्रिया आलोचक हुए हैं, उनमें एक डॉ.देवीशंकर अवस्थी दूसरे और दूसरे आचार्य नामवर सिंह है। नामवर जी कहानी समीक्षा को सहयोगी प्रयास के रूप में शुरू करते हुए कहते है कि आज की हिंदी कहानी के रूप में जरूर तब्दील हुई है। जैसे कवियों की तरह कहानीकारों ने भी शिल्प को लेकर नए प्रयोग करने की प्रवृत्ति को अपनाया है। लेकिन नामवर जी ऐसा मानते हैं कि यह प्रवृत्ति सिर्फ प्रयोग करने के लिए लिखी गई है। आगे कहानी एवं नई कहानी में भेद करते हुए लिखते है कि– "जो छोटी–सी बात पुराने कहानीकारों के लिए अपर्याप्त थी, उसी को नये कहानीकारों ने कहानी के लिये पर्याप्त मान लिया है और फिर उसके भीतर से उन्होनें कहानी के कथानक की विभिन्न सिम्तों का विकास किया है। इसी दिशा में नया कहानीकार कभी–कभी इतना अंतर्गूढ होता है कि बातों में से बात का यह निकालते जाना ही इतना मनोरंजक होता है कि एक कहानी बनजाती है। परंतु यह कौशल वही दिखा सकता है, जिस के पास बातचीत करने की उत्कृष्ट कला हो और साथ ही भाषा की बरीकियाँ भी।"[6] यहाँ नामवर जी मानते हैं कि पुराने कहानीकार के लिए जो चीज महत्व नहीं है लेकिन वहीं चीज नये कहानीकार के अधिक महत्वपूर्ण बन जाती है। वे कहानी के लिए कुशलता, बौद्धिकता के साथ भाषा की भी ज्ञान होना जरूरी मानते हैं।

नामवर जी कहानी आलोचना में घटना प्रसंग पर चिंतन करते हुए बहुत खेद प्रकट करते है। वे खास कर कहानीकारों में सामाजिक दृष्टि कमी के कारण ऐसी कृतियाँ खोखले बनते जा रहे हैं। यह कहानीकारों की कमजोरी समझते है। वे कहानी की सफलता पर विचार करते हुए लिखते हैं कि लोक जीवन का मुग्ध एवं मार्मिक रूप बताना अपने आप में बहुत बड़ा गुण होता है, वह गुण तो मात्र अनुभवी कहानीकारों में उपलब्ध होता है। कहानी के सृजन में सामाजिक दृष्टि के साथा घटना प्रसंग

तथा जीवन की वास्तविकता को चित्रण करने की क्षमता होना चाहिए। आगे नामवर जी लिखते हैं कि– "यह साभिप्राय घटना– प्रसंग सर्वथा कल्पित अथवा अविश्वसनीय भी हो सकता है और अत्यंत वास्तविक भी। घटनादृप्रसंग जितना ही वास्तविक होगा, कहानी उतनी ही जोरदार होगी।"[7] यहाँ नामवर जी कहानीकार में वास्तविक जीवन की अनुभूति एवं वास्तविक जीवन संघर्ष को ग्रहण करने की क्षमता आवश्यक मानते हैं। यदि मुक्तिबोध की बातों में कहा जाए सही होगा, वे कहते है 'जीवन विवेक ही साहित्य का विवेक हैं।' नामवर जी के विचारों से लगता है कि कौनसी बात पाठको समझ में आ जाएगी है और कौनसी बात पाठकों को समझाना है इसका ध्यान वही रखता जिनके पास जीवन के अनुभूतियों का गहरा दृष्टि होता है। आगे वही कहानीकार कहानी के सृजन में सफल होते हैं।

नामवर जी कहानी की सफलता पर प्रकाश डालते हुए कहते है कि यह कहानी का दुर्भाग्य है कि कहानी को मनोरंजन के रूप में पढ़ी जाती और शिल्प के रुप में आलोचना किया जाता है। नामवर जी लिखते है– "छोटी मँह बड़ी बात कहने वाली कहानी के बारे में प्रायः बड़े मुँह छोटी बात कही जाती है। कहानी का यह दुर्भाग्य है कि वह मनोरंजन के रूप में पढ़ी जाती है और शिल्प के रूप में आलोचना होती है। मनोरंजन उसकी सफलता है तो शिल्प उसकी सार्थाकता ! कहानी में अनेक आलोचकों को दिलचस्पी इतनी ही है कि वह साहित्य का एक रूप है।"[8] इससे जाहिर होता है कि शास्त्रीय आलोचक कहानी को केवल साहित्य का रूप मानते है तो मूल्यवादी आलोचक जीवन की सार्थकता अनुभूतियों के लिए असमर्थ मानते है। नामवर जी कहते है कि संभव है कि जीवन के लघु प्रसंग को लेकर लिखी जाने वाली कहानियँ,स्वयं भी लघु समझी जाती है। अंत में वे कहते हैं कि व्यापक जीवन दृष्टि रखने वाले स्वभाव से कहानी जैसे विधा को छोटी चीज समझ कर उन्हें नजर अंदाज किया जाता है।

नामवर जी नई कहानी की सार्थकत पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि– "कहानी में जब मैं सार्थकता की बात करता हूँ तो इसका यह अर्थ है कि कहानी हमारे जीवन की छोटी–से–छोटी घटना में भी अर्थ खोज लेती है या उसे अर्थ प्रदान कर देती है।"[9] यहाँ नामवर जी नई कहानी की सफलता छोटी घटना से होता मानते है। पुरानी कहानीकारों के लिए जो घटना निरार्थ होता है लेकिन वही घटना नई कहानीकारों के लिए सार्थक हो जाता है। वे मानते हैं कि वही कहानीकार सफल एवं सार्थक माना जाता है जो कि जीवन की हर छोटी घटना के भीतर से संपूर्ण जीवन की सार्थकता अनुभव करता है।

दरअसल नामवर जी आज की हिंदी कहानी की भाषा पर प्रकाश डालते हुए लिखते है कि– "भाषा इधर की कहानियों की काफी बदली है, यह कह सकते है कि माँजी है। यहाँ तक कि हिंदी गद्य का अत्यंत निखरा हुआ रूप आज की कहानियों में ही सबसे अधिक मिलता है। कहानी में एक भी फालतू शब्द न आये, इसके प्रति आज का लेखक बहुत सतर्क है और शुभ लक्षण है।"[10] इसके माध्यम से नामवर जी यह मानते हैं कि आज के कहानीकार के लेखन में हर शब्द किसी न किसी अर्थ को समझाता है और कोई भी शब्द पालतू नहीं है। यह स्थिति आधुनिकता के साथ हर मनुष्य के जीवन शैली की फितरत बन गयी है। उसी का रूप में आज के लेखकों के लेखन में भी झलकता है। समकालीन समाज में जैसे मनुष्य कहानी को पढ़ने के लिए जाता है तो सोचता है कि कम समय

में ज्यादा ज्ञान हासिल हो जाए है, वैसे ही आज लेखक के सृजन में कोई भी शब्द बेकार नहीं होना चाहिए उस में कुछ भाव होना अनिवार्य मानते है।

हिंदी कहानी की आलोचना करते समय कला एवं भाषा पर विशेष रूप से ध्यान रहना अत्यंत आवश्यक हैं, नामवर जी आगे लिखते हैं कि—"नई कहानी को कहानी—कला की अपनी विशेषता के साथ ही संपूर्ण साहित्य के मान और मूल्यों के संदर्भ में देखने की आवश्यकता है और इस के लिए कहानी समीक्षा की एक व्यापक निश्चित भाषा का भी निर्धारण होना चाहिए। मेरी अपनी सीमा यह है कि मैं अब तक मुख्यताः काव्य का पाठक रहा हूँ। कहानियाँ मैंने कम पढ़ी हैं और उनमें अंतर्निहित सत्य को समझने और व्यक्त करने की भाषा भी अब तक नहीं तय कर पाया हूँ।"[11] इससे झलकता है कि नामवर जी कहानी की कला में मूल्यों एवं भाषा पर अधिक बल देते हैं।

आचार्य नामवर सिंह की कहानी की दृष्टि पर चिंतन किया जाए तो मुझे हिंदी के युवा आलोचक डॉ. अभिषेक रौशन की पंक्तियाँ याद आती है वे लिखते हैं कि—"किसी रचना का सामाजिक आधार क्या है, उसकी सृजन के स्त्रोत क्या हैं, उसमें कौन—सी जीवन—दृष्टि निहित है, उसकी भाषा कैसी है, इन प्रश्नों से टकराकर ही आलोचना सही मायने में रचना में अर्थ का संधान कर सकता है। और आलोचना का दायित्व है कि रचना घटनाओं, चरित्रों के माध्यम से व्यक्त विचारधारा को व्याख्यायित करे।"[12] इस दृष्टि से देखा जाए तो आचार्य नामवर सिंह ने कहानी की आलोचना करते हुए उपर्युक्त दर्शाए गये सारे पहुलुओं पर विचार विश्लेषण करते है। अगर गहराई के साथ देखा जाए तो उन में मार्क्सवादी विचारधारा की दृष्टि देखाई पड़ती है। नामवर जी ने अपने आलोचनात्मक विवेक से हिंदी कहानी आलोचना को मजबूत आधार प्रदान किया है, जो कि उनकी कहानीः नई कहानी नामक आलोचनात्क कृति के माध्यम से हिंदी कहानी आलोचना के इतिहास में नए और अर्थवान अध्याय को जोड़ते है। अंततः लेखक एवं आलोचक के बीच के संबंध को दर्शाते हुए लिखा है, नामवर जी एक अन्य कवि के शब्दों में कहा है— When me they fly I am their wings. (जब वे उड़ते हैं तो मैं उनका पंख होता हूँ) समकालीन आलोचना में यही दृष्टि देखने को मिलती है।

संदर्भ—सूची :—

1. पंडित बालकृष्ण भट्ट— हिंदी प्रदीप पत्रिका , नवंबर— दिसंबर ,1900, पृ सं—18।
2. संपादक सत्य प्रकाश मिश्र— प्रेमचंद के श्रेष्ठ निबंध, पृ सं—102।
3. संपादक सत्य प्रकाश मिश्र— प्रेमचंद के श्रेष्ठ निबंध, पृ सं—103।
4. संपादित जैनेद्र कुमार— हिंदी 23 कहानियाँ भूमिका (साहित्य अकादमी की ओर से) पृ सं—10।
5. शिवदान सिंह चौहान— आराधना के मान, पृ सं —44।
6. नामवर सिंह— कहानी नई कहानी, पृ सं—14।
7. नामवर सिंह— कहानी नई कहानी, पृ सं—15।
8. नामवर सिंह— कहानी नई कहानी, पृ सं—18।
9. नामवर सिंह— कहानी नई कहानी, पृ सं—26।
10. नामवर सिंह— कहानी नई कहानी, पृ सं—16।
11. प्रो. नामवर सिंह— पहल पत्रिका, कहानी —नववर्षांक1958— पृ सं—36।
12. डॉ.अभिषेक रौशन— बालकृष्ण भट्ट और आधुनिक हिंदी आलोचना का आरांभ, पृ सं—22,24।

समकालीन स्त्री-लेखन एवं मृणाल पाण्डे

दिलीप कुमार *

साहित्य मूलतः युग संदर्भों की देन है। उसमें छुपे अतीत का चित्र और भविष्य का अंदाजा युग संदर्भ से जोड़कर ही लगाया जा सकता है। इसलिए यह कहना सार्थक होगा कि प्रत्येक रचना समकालीन हो सकती है। युग संदर्भों के साथ प्रवित्तियों में भी परिवर्तन होता रहता है इसलिए अपनी व्यापक परिधि के अंतर्गत प्रत्येक रचना समकालीन है। वास्तव में समकालीनता का वास्तविक अर्थ है– अपने समय का। पर्याय के रूप में समसामयिक, युगीन, अद्यतन नाम दिया जा सकता है। इसके बावजूद समसामयिक और समकालीन में अंतर भी है। इतिहास बोध और भविष्य बोध को एक साथ वर्तमान के संदर्भ में रखकर युगबोध को प्रस्तुत करना समकालीनता का उद्देश्य है। इस संदर्भ में अशोक बाजपेयी लिखते हैं कि– 'बावजूद बहुत सारे बुनियादी अंतरों के 20वीं शती का भारतीय मनुष्य एकदम अद्वितीय और विभक्त है। इसलिए मनुष्यता के परंपरागत इतिहास से एकदम बाहर और अपरिभाषेय है। ऐसा मानना समकालीन साहित्य के मानवीय संदर्भ को अकारण सीमित और सकरा कर देना है।'[1] विजेंद्र के अनुसार– 'समकालीन का अर्थ भौतिक रुप से जो घटित हो रहा है मात्र उतना ही नहीं बल्कि जो कुछ क्षतिग्रस्त है उनकी पुनर्रचना की सृजनशील चेष्टाएँ और जीवन को समुन्नत तथा सुंदर एवं मनोहारी बनाने की परिकल्पना ही उस समकालीनता का एक महत्वपूर्ण पक्ष है।'[2]

समकालीन होना अपने समय में होने का बोध ही नहीं है बल्कि यह समयसिद्ध होने के साथ समय भेदी होना भी है। विजयमोहन जी ने समयसिद्ध होने को ही समकालीनता से जोड़ा है अर्थात समकालीन भावबोध में सिर्फ वर्तमान के प्रति चेतना ही नहीं बल्कि सामयिक दशा के साथ समय के बाद वाली एक दृष्टि भी होनी चाहिए (जहां से पृथ्वी को पलटा जा सके यह विन्दु महत्वपूर्ण है समकालीन होने के लिए)। समकालीनता का मतलब समय की वैचारिक और रचनात्मक दबाओं को सहन करते हुए उनसे उत्पन्न तनाव एवं टकराहटों की भी अपनी रचना प्रक्रिया द्वारा अपने होने का प्रमाण देना। समकालीन रचनाकारों ने स्त्री–पुरुष के रिश्ते को समग्र व्यक्तित्व के रुप में व्यक्त किया है तथा एक प्रमुख इकाई के रूप में भी। व्यक्ति इकाई की अवधारणा एक विशेष अर्थ में सामाजिक संदर्भ से अलग अस्तित्व रखती है जो बीसवीं शताब्दी तक व्यापक धरातल पर दिखाई देने लगा। इसने स्त्री–पुरुष के संबंध को नई दिशा की ओर अग्रेसित किया। इस व्यक्ति चेतना का ही प्रमाण था कि स्त्री औद्योगिक एवं वैज्ञानिक युग में भी अपने कर्तव्यों एवं अधिकारों के प्रति जागरुक हुई लेकिन उस पर समाज, परिवार की जिम्मेदारी थी वह इन चीजों से कैसे मुक्त हो सकती है? इसका वास्तविक उत्तरदायित्व सबसे अधिक रूढ़िगत सामाजिक व्यवस्था पर है उसके बाद उस व्यक्ति पर है जो इन रूढ़ियों से ग्रस्त है। विज्ञान के प्रभाव से तथा वैज्ञानिक सोच के बावजूद स्त्री आज भी संस्कारों से मुक्त नहीं हो पाई है। वह अपनी मनःस्थिति एवं वेदना को संस्कारों के भयवश व्यक्त नहीं कर पाती। वह भीतर ही भीतर छटपटाती रहती है। वह हर सामाजिक आवरण एवं लादे गए आवरण को किनारा करना चाहती है। इसका प्रमाण हमे अर्धनारीश्वर उपन्यास में मिलता है जिसमें सुमित्रा जैसी स्त्री स्वयं कहती है कि– 'अपने को खोल देना चाहती हूँ, उतार फेंकना चाहती संस्कारों के धुवें के चादर को लेकिन अंतर में उमड़ता तुमुलनाद हरक्षण मुझे कातर क्यों कर जाता है– शब्द, शब्द और शब्द। क्रिया के बिना शब्द का अस्तित्व सार्थक हुआ है क्या?'[3]

*** शोध छात्र, हिन्दी विभाग महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय बड़ौदा (गुजरात)।**

समकालीन संदर्भ में स्त्री ने सामाजिक यथार्थ एवं मूल्यबोध को भापा है। वह कटुता भरी जिंदगी नहीं जीना चाहती। अपने अधिकारों का सदुपयोग करना जानती है। अपनी सभ्यता और संस्कृति की आड़ में अपना शोषण नहीं होने देना चाहती। स्त्री जब समाज में प्रचलित मान्यताओं एवं परंपराओं के विरुद्ध उठ खड़ी होती है तब यही समाज उस पर उंगलियां उठाने लगता है। परंपराओं के विरुद्ध ललकारने वाली स्त्री के परिवार वाले ही खुद उसके लिए शत्रु बन जाते हैं। यही स्थिति मृणाल पाण्डे के उपन्यास 'हमको दियो परदेश' में मिलता है जिसमें टीनू परंपरा का विरोध करती हे। वह कहती है कि अगर देवी–देवता का प्रसाद कोई लड़का खा सकता है तो लड़की क्यों नहीं। समकालीन कथा साहित्य की समूची विकास प्रक्रिया में हिंदी कथा लेखिकाओं को स्वतंत्र रूप से रेखांकित करने की वजह उनकी लेखन को स्वतंत्र रूप से पहचानना है। जहां पुरुष प्रधान समाज में नारी का अस्तित्व चाहे सामाजिक जीवन स्तर पर हो या फिर चाहे सृजनात्मक स्तर पर उसके खो जाने का खतरा बराबर रहा है। समकालीन लेखिकाओं की रचनाओं में यह मिलता है कि उनकी सृजन क्षमता अपने युग के समाज से प्रतिक्रिया करती हुई अपना महत्त्व स्थापित करती है। आधुनिक सभ्यता एवं विकास की गति ने स्त्री को पुरुष के बराबर शक्ति अर्जित करने की ओर सजग किया। शुरुआती दौर में रचनात्मक स्तर पर स्त्रियों की भूमिका दूसरे दर्जे की रही लेकिन आधुनिक समय में यह मिथक टूट गए। स्त्रियाँ अब उबान, नीरस, थकाने वाले कामकाज के अलावा सामाजिक कार्यों में भी योगदान दे रही हैं। समकालीन महिला लेखन साठ के बाद (स्वतंत्रता के एक दशक बाद) शुरू हुआ। नारी जागरुकता पश्चिम की नारी आंदोलन से कहीं न कहीं जरूर प्रभावित है तथा भारत में जूझ रही, संघर्ष कर रही स्त्री के त्रासदी के संघर्ष से टकराया। आगे चलकर उसे अपने संघर्षों से जूझने की ताकत मिली जिसके कारण नारी–विमर्श केंद्र में आया और समकालीन महिला लेखन आगे की राह में आसानी से चल पड़ा। समकालीन महिला लेखन में कई लेखिका शामिल है जो आज भी स्त्री जीवन के दर्दों, विडम्बनाओं,एवं पुरुष मानसिकता को लिख रही है जैसे– मृणाल पाण्डे, मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, मैत्रेयी पुष्पा, ऊषा प्रियंवदा, ममता कालिया, सुधा अरोड़ा, नमिता सिंह, मृदुला गर्ग, नासिरा शर्मा, मालती जोशी आदि।

यह एक बात सत्य है कि आज हिंदी में लिखने वाली महिलाओं की तादात बढ़ी है। जिसमें उनके जीवन के अनुभव, सभ्यता–संस्कृति भी दिखाई पड़ती है लेकिन उनकी आवाज हाशिये पर है। पश्चिम में बहुत पहले महिलाओं ने अपने अस्तित्व को पहचान लिया था। भारतीय परिवेश में यह भ्रम रहा है कि अनेक चीजों की तरह साहित्य, संस्कृति में फेमिनिज्म, (स्त्रीवाद) पश्चिम की नकल भर है, फैशन भर है, इसका भारतीय वस्तुस्थिति से कोई मतलब नहीं है। इस अवधारणा का खंडन मृणाल पांडे ने अपनी पुस्तक परिधि पर स्त्री में खंडित किया है। उनका मानना है कि– 'नारीवाद गंभीर चिंतन का विषय है जिसमे कई मोर्चे पर एक साथ लड़ना होता है। नारीवाद उसके लिए फैशन नहीं, न पश्चिम है, न पूर्व। यह ठोस हकीकत स्त्री का बयान है। नारीवाद कत्तई स्त्रियों को वृहत्तर समाज से अलग–थलग रख देने और हर क्षेत्र में पुरुषों के खिलाफ उन्हें प्रोत्साहित करने का दर्शन नहीं। यह तो एक समग्र दृ ष्टिकोण है जो संवेदनशील नागरिकों में पहले शोषित और वंचित स्त्रियों के स्थिति के प्रति सहानुभूति और मानवीय दृष्टिकोण विकसित करके उसके उजास में उन्हें अपने पूरे समाज के शोषित और प्रवंचित तबकों को समझने की क्षमता देता है।'[4]

महिला रचनाकारों ने नारी मन के अंतर्विरोधों के साथ–साथ मध्यवर्गीय समाज के विसंगतियों सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था से उपजा संकट, समसामयिक विषमताओं,आधुनिक विक्षिप्तता और वर्तमान पीढी का खालीपन और उसे उपजा व्यर्थताबोध आदि विषय को भी बौद्धिकता के धरातल पर व्याख्यायित किया है। समकालीन महिला लेखन पारस्परिक सम्बन्धों व व्यवस्था में स्त्री की स्थिति की

पड़ताल करता है। समकालीन रचना लेखन महिलाओं के कलम से निकली एक ऐसी दुनिया है जहाँ स्त्री का संसार स्वतंत्र दिखाई देता है। साथ ही समाज में स्त्री की स्थिति, उनकी पीड़ा, यातना, बेबसी, असमंजस, विद्रोह, संघर्ष, महत्वाकांक्षा शक्ति और कहीं–कहीं सिर्फ उसके होने को तरह–तरह से अभिव्यक्ति देने वाली रचनाओं में मध्यवर्गीय पहचान अपनी शक्ति और सीमा दोनों में उजागर होती है।

यह समाज पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री के हैसियत के बारे में सोचने के लिए मजबूर करता है। जिसमें बहुनिष्ठ पति या पुरुष अपने संरक्षण में रहने वाली स्त्रियों से एकनिष्ठता की अपेक्षा अपना अधिकार समझता है। इसके अलावा जिस संबंध पर विवाह की मोहर लगी हो उससे चाहे जब अलगाव कर लेने में न् उसे झिझक होती है न पश्चाताप। ऐसे संबंधों में जन्म लेने वाले बच्चों का भविष्य भी अनिश्चित होता है। यह स्त्री के लिए एक समस्या है। नारीवादी शब्दकोश में यह संपूर्ण स्थिति विवाहसंस्था अविवाहित मातृत्व की समस्या आदि को देखा जा सकता है। समकालीन लेखन में मध्यवर्गीय संस्कारों के प्रति विशेष प्रतिबद्धता दिखाई देती है। तमाम समस्याओं को झेलती स्त्री पुरुष के उपकार से मुक्त होना चाहती लेकिन मुक्त नहीं हो पाती क्योंकि लेखिका द्वारा चुने गए पात्रों में इतनी संघर्षशीलता नहीं कि एक नया रास्ता निकाल सके। इस संबंध में लेखिका नेहरुनिशा परवेज कहतीं हैं कि –'परिस्थितियों से विद्रोह कर नारी आखिर कहां जाए? इस पुरुष प्रधान समाज में नारी इतनी जकड़ी हुई है कि सही मायने में विद्रोह कर ही नहीं सकती।... अंततः वह एक जगह से हटकर पुनः उसी व्यवस्था का शिकार हो जाती है जो पुरुषों के द्वारा निर्मित है।'[5]

समकालीन रचनाकार के यहां स्त्री पुरुष संबंधों में बहुत बदलाव देखने को मिलते है। आज वैज्ञानिक युग में स्त्री प्रत्येक कार्य करने में सक्षम हो चुकी है इसलिए वह पुरुष पर निर्भर नहीं। मशीनों के संचालन, टेक्निकल क्षेत्रों में, पुरुषों के बराबर कार्य महिलाएं कर रही हैं। रचनाकारों ने यह स्वीकार किया है कि नारी पुरुष के संबंध अब विचार और सहभागिता पर निर्भर है। सहयोग की भावना से पल रहे रिश्तों में मानवीय जीवन को मजबूती प्रदान करते है। जहां सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक मूल्य अपने आप जुड़ जाते है। आज मानवीय रिश्ते जो शरीरी–अशरीरी सुख से ऊपर उठकर देखे जाते हैं। तब मानव मूल्य सार्थक हो जाता है। मृणाल पाण्डे के उपन्यास विरुद्ध में इसका उदाहरण देखा जा सकता है। रजनी अपने अनुसार जीवन जीना चाहती है और उदय अपने अनुसार। रजनी को पुरानी परंपराएं कम पसंद है, वह जीवन को नए तरीके से जीना चाहती है उदय के अनुसार नहीं जीना चाहती। वह स्वतंत्र होकर रहना, खाना और घूमना चाहती है। इस संदर्भ में मृणाल पाण्डे का कहना है कि– 'शायद पुरुषों का यह बेहद कामकाजी, बेहद सुलझा और लापरवाह रूप एक चालू मिथक–भर है जिसे गदराई प्रतीक्षा में बैठी उनकी औरतें उनके चारों ओर निरंतर बुनती, कातती, फैलाती रहती है। होते–होते शायद वह जाल इतना सघन हो जाता है कि जब पुरुष के इन फुर्सती दिनों की सपाट आत्मीयता अचानक दोनों के दरम्यान आन खड़ी होती है तो वे विदक जाती है, एकदम आतंकित होकर।'[6]

आज केवल विवाह मात्र से रिश्ते मजबूत नहीं हो सकते। हमारे समाज में विवाह के द्वारा स्त्री–पुरुष को साथ–साथ रहने, जीवन यापन करने को अच्छा माना जाता हैं। पर वे क्या दोनों साथ–साथ रहकर खुश है या नहीं। उनके बीच रिश्तों की अहमियत है कि नहीं? यह भी एक बड़ा विषय है। इन सब बातों के परिप्रेक्ष्य में मृदुला गर्ग कहती है कि– 'मैं व्यवस्थित विवाह में विश्वास नहीं करती। वह विवाह नहीं जबरदस्ती किसी का पल्लू पकड़ लेना है। दो कारणों से ऐसा करने की आवश्यकता पड़ सकती है। आर्थिक आलम्बन की खोज या शारीरिक भूख। पहले की हमें जरूरत नहीं है तथा दूसरा तो उसके लिए विवाह की आवश्यकता नहीं। बेहतर है मुक्त प्रेम जो बासी होने पर फेंका जा सकता है।

विवाह तब करना चाहिए जब पुरुष उसके बिना भी पूर्ण समर्पण को व्यग्र हो तभी वास्तविक एक्य हो सकता है।'[7]

स्त्री हमेशा झूठी परंपराओं, धर्मों, रिवाजों एवं नैतिकता का विरोध करती है। पाखंड रचने वाले लोगों या दगाबाजी भरे कृत्यों को स्त्री स्वीकार नहीं करती। वो मानवीय मूल्यों को अहमियत देती है। समानता, बंधुत्व एवं न्याय को उचित समझती है। जो इन सबके खिलाफ कार्य करता है स्त्री उसके खिलाफ हो जाती है।खासकर स्त्री विद्रोह करती है– पितृसत्ता का, पुरुष मानसिकता का, उसके उपर जबरन लादे गए पाखण्डों का, उलझन भरे कृत्यों का। ये सभी चीजें मानवीय मूल्यों को सहारा नही देती तथा स्त्री को समाज इन चीजों के रहते कैसे समझ सकता है।स्त्री चाहती है दया, करुणा, इमानदारी, सहानभूति और बराबरी का हक। इसका उदाहरण हमें 'रास्तों पर भटकते हुए' उपन्यास में मिलता है। इस उपन्यास में मृणाल पाण्डे ने स्त्री जीवन की संवेदना को व्यक्त करते हुए कहतीं है कि– 'किसी से चुप रहो, भाग जाओ, मुझे अकेला छोड़ दो–बस यह कह सकने के लिए मुँह में सिर्फ एक अदद जीव का होना भी काफी नहीं। वैसा कह पाने के लिए या तो बहुत मीठे बहुत सुंदर संसाधन चाहिए या बेपनाह कड़वाहट और हड्डी–पसली को एक कर देने की क्रूर क्षमता।'[8]

भले ही पुरुषों ने संवेदना के बल पर स्त्री की सहानुभूति एवं उसकी पीड़ा को व्यक्त किया पर वह औरत की तरह अनुभवजन्य प्रामाणिक नहीं हो सकता ठीक वैसे ही जैसे– प्रसव वेदना को जब औरत झेलती है उस समय वह किन–किन विचारों से जबरू होती है, क्या–क्या संकल्प लेती है उस पीड़ा से बचने के लिए जिन्हें वह स्वयं बाद में तोड़ती भी है इसको एक पुरुष व्यक्त नहीं कर सकता। अब जब स्त्री अपना अस्तित्व समझ चुकी है, अपनी पहचान कर चुकी है तथा इसके लिए वह संघर्ष भी कर रही है। शिक्षा प्राप्त होने के बाद वह निरंतर लिख भी रही है। उसका लिखा हर एक शब्द प्रामाणिक है क्योंकि वह कोरी कल्पना नहीं बल्कि भोगा हुआ दुःख है, यथार्थ है जिसको कोई झूठ नहीं कर सकता। मृणाल पाण्डे का साहित्य भी स्त्री के अतीत, वर्तमान और भविष्य की रुपरेखा को अपने अंदर समेट हुए है। भाषा स्त्री की संवेदना का मार्मिक पक्ष है। स्वयं का अपना भोगा जिंदगी का सुख–दुःख है। अपने जीवन की अनुभूतियां एवं दर्द जीवन के हर पहलू की याद दिलाते हैं जिससे अंदर से आए विचार भाषा के माध्यम से साहित्य रच देते हैं।

संदर्भ–सूची :–

1. चन्द्र कल्याण – समकालीन कवि और काव्य, (1996), चिन्तन प्रकाशन कानपुर, पृष्ठ संख्या 12,13,15।
2. ज्ञानरंजन – पहल(पत्रिका –37), पृष्ठ 31, तथा भगवान सिंह का लेख–फिलहाल, पृष्ठ संख्या 10।
3. गौतम लक्ष्मी – उत्तर आधुनिकता और समकालीन कथा साहित्य, (2013), लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या 117।
4. गौतम लक्ष्मी – उत्तर आधुनिकता और समकालीन कथा साहित्य, (2013), लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या 142।
5. ममता कालिया – नयी सदी की पहचान, श्रेष्ठ महिला रचनाकार, (2002), लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या 9।
6. पाण्डे मृणाल – विरुद्ध (उपन्यास),(1977) ,राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 91।
7. गर्ग मृदुला – चितकोबरा (उपन्यास) , पृष्ठ संख्या 78।
8. पाण्डे मृणाल – रास्तों पर भटकते हुए (उपन्यास), (2000), राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 78।

इक्कीसवीं सदी के कथा साहित्य में बुजुर्ग विमर्श

छविंदर कुमार*

शोध संक्षेप :– साहित्य और समाज के संबंधों की जड़े बहुत गहरी होती है तथा दोनों एक–दूसरे के पूरक भी है। साहित्य अपने युगीन परिवेश से प्रभावित होता है और प्रभावित भी करता है। अपने युगीन समाज की समस्त हलचलों से साहित्य विचलित व परिवर्तित होता है। समाज में होने वाली समस्त हलचलों व घटनाओं का साहित्यकार पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। एक तरह से समाज ही साहित्यकार का ग्रंथ है , उससे ही वह अपनी कल्पना से नई उड़ान भरता है। किसी भी काल का साहित्य अपने युग से प्रभावित और परिस्थितियों से अछूता नहीं रहा है। यह सब हम वैदिक काल के साहित्य से आधुनिक काल के साहित्य में देख भी सकते हैं। तुलसीदास जी ने एक तरफ साहित्य को स्वांतःसुखाय–कहकर व्यक्तिनिष्ठ कहा है और वहीं दूसरी तरफ 'कीरति भनिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सब कह हित होई।' कहकर साहित्य को समाज का धर्म भी बताया है। इस प्रकार तुलसीदास जी ने व्यक्ति परिष्कार के साथ साहित्य के सामाजिक मूल्य को भी स्वीकार किया है। हिंदी कथाकारों ने अपनी रचनाओं में हमारे समाज की प्रत्येक समस्याओं पर विचार–विमर्श किया है और उसे कलमबद्ध भी किया है जैसे नारी विमर्श, दलित विमर्श, किन्नर विमर्श एवं आदिवासी विमर्श। साहित्य प्रारंभ से ही समाज का दर्पण माना जाता है। साहित्य में प्राचीन काल से ही वृद्ध विमर्श को भी स्थान दिया जा रहा है। साहित्य में सर्वप्रथम हम रामायण में देखते हैं कि राम अपने पिता के कहने मात्र से ही राज पाठ त्याग कर वन गमन के लिए निकल जाते हैं। आज भूमंडलीकरण और वैश्वीकरण के इस युग में हमारे नैतिक मूल्यों का ह्रास तीव्र गति से हो रहा है और हम अपने संस्कारों को भूल बैठे हैं। शिक्षा ने हमें सिर्फ शिक्षित बनाया है तथा ये हमें संस्कार नहीं दे पाई है तभी तो इसका खामियाजा आज समाज में बुजुर्ग वर्ग भुगत रहा है व असुरक्षित महसूस कर रहा है। उसका बूढ़े होना मानो एक अभिशाप सा है।

प्रस्तावनाः :– इक्कीसवीं शताब्दी भूमंडलीकरण और वैश्वीकरण की सदी है जिसमें संसार अब वैज्ञानिक चमत्कारों का अनुभव कर आधुनिकता से उतर आधुनिकता की ओर बढ़ रहा है। आज का युग भौतिकता, तार्किकता एवं परीक्षण का युग है। आज हर क्षेत्र में नये–नये प्रयोग किए जा रहे हैं। ये वैज्ञानिक एवं तकनीकी का समय ही इस इक्कीसवीं शताब्दी का है। इंसान बहुत ज्यादा व्यस्त हो चुका है और सूचना प्रौद्योगिकी के समय में उसका दूसरे देशों के लोगों से भी मिलना जुलना बढ़ा है। ऐसे में वो विदेशी संस्कृति से भी प्रभावित हुआ है और उसका प्रभाव उस पर पड़ा है। उसके परिणामस्वरूप वो भारतीय संस्कृति को भुल बैठा है और जिससे हमारे पारिवारिक रिश्ते की जड़ें भी क्षुब्ध हो रही है। आज ये जड़ें इतनी कमजोर है कि पति–पत्नी को एक–दूसरे पर विश्वास नहीं रह गया है और संबंध–विच्छेद एक साधारण सी बात है। सारे रिश्ते हम भूलते जा रहे हैं। मां–बाप भगवान का रूप है ये हमें भारतीय संस्कृति ने सिखाया है लेकिन आज पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण कर हम ये सब भूल बैठे हैं। हमारे माता–पिता को सब कुछ होने के बावजूद भी आज वृद्ध

*** शोधार्थी , पीएचडी हिंदी, केंद्रीय विश्वविद्यालय धर्मशाला, जनपद–कांगड़ा, हिमाचल प्रदेश।**

आश्रम में आश्रय लेना पड़ रहा है। एक समय था जब पितृ तथा मातृ प्रधान व्यवस्था थी। घर का बुजुर्ग प्रधान होता था और परिवार के सभी सदस्य उनके आदेशों की पालना करते थे लेकिन आज परिस्थितियां प्रतिकूल है। आज तो माता–पिता को डरकर रहना पड़ता है और कोई उनकी बात सुनना नहीं चाहते। हमारे पास उनके व्यापक अनुभवों को अनुश्रवण करने का अवसर नहीं है। बुजुर्ग एक ऐसा पवित्र व विशाल ग्रन्थ है जिस ग्रंथ में लड़कपन से लेकर प्रौढ़ होते हुए बुढ़ापे तक का ज्ञान है। आज के युग में विमर्श अत्यंत आवश्यक है क्योंकि आज हम इतने व्यस्त हो गए हैं कि हमारे पास बुजुर्गों को समझने का भी समय नहीं है। इसी कारण हम बुजुर्गों की तरफ न ही ध्यान दें पा रहे हैं और न ही उनके अनुभव व ज्ञान का लाभ उठा पा रहे हैं। व्यवसायिक जीवन की व्यस्तता के कारण हमारे पास समय ही नहीं है। परिणामस्वरूप पीढ़ियां एक–दूसरे के नजदीक आने की अपेक्षा दूर होती जा रही है। यह खाई हमें अपनी सभ्यता व संस्कृति से दूर कर रही है।

बुजुर्ग या वृद्धावस्था एक स्वाभाविक व प्राकृतिक घटना है। यह हर एक इंसान के जीवन में धीरे–धीरे आने वाली अवस्था है। वृद्ध का शाब्दिक अर्थ है पक्का हुआ या परिपक्व। ये वह अवस्था है जब मनुष्य के दांत गिर जाते हैं, केश सफेद हो जाते हैं या झड़ जाते हैं, आंखों से दिखाई नहीं देता, कानों से सुनता नहीं है। टांगें चलती नहीं है और लाठी का सहारा लेना पड़ता है। हाथों में कंपन्न होती है। जिस तरह शैशवास्था है और मां को बच्चे का बहुत ध्यान रखना पड़ता है वैसे ही बूढ़ापा भी है। इस उम्र में इंसान की मति बच्चे जैसी ही हो जाती है। उसको ऐसे समय में सेवा की आवश्यकता होती है लेकिन आज हमारे समाज का दुर्भाग्य ही है कि हम ऐसा करने में, उनका आशीर्वाद लेने में असमर्थ हैं। विमर्श को साधारण अर्थ में विचार विवेचन व परीक्षण के रूप में देखा जाता है। किसी भी समस्या या परिस्थितियों को देखकर उनके प्रति मानसिक, सांस्कृतिक तथा धारणाओं का समाहार करते हुए पूर्ण रूप से चिंतन करना और उसे समझने का प्रयास करना ही विमर्श है। हिंदी में ये शब्द अंग्रेजी के क्पेबवनतेम शब्द से आया है जिसका अर्थ है सुदीर्घ या गंभीर चिंतन। वृद्ध विमर्श से तात्पर्य है वृद्धावस्था की परिस्थितियों या घटनाओं का चिंतन करना। हिंदी कथाकारों में मुंशी प्रेमचंद ने बेटों वाली विधवा में पंडित अयोध्या नाथ के बाद विधवा फूलमती की दशा एवं बूढ़ी काकी में काकी की दयनीय दशा पर विमर्श किया। इसके अलावा उन्होंने मां और सुभागी इत्यादि कहानियों में भी वृद्धावस्था पर लिखा है। उषा प्रियवंदा ने वापसी कहानी लिखकर हिंदी कथा जगत में धूम मचा दी थी और कहानी इस प्रकार लिखी कि परवर्ती कथाकारों के लिए मानो कुछ लिखने को रहा ही न हो। इसमें कथानायक गजाधर बाबू रेलवे से जैसे ही सेवामुक्त हुए और घर पहुंचे तो वह देखते हैं कि जब वह नौकरी करते थे तो उनकी परिवार वाले बहुत इज्जत व सम्मान करते थे, उनका कहना मानते थे लेकिन अब घर वालों का रवैया बिल्कुल विपरीत है। यहां तक कि उनकी पत्नी भी उनकी नहीं रही। बेटा–बहु, पुत्री कोई भी उनका कहना मानने को तैयार नहीं। एक गंदे से गोदाम में टुटी–फुटी चारपाई उनके लिए लगा दी जाती है। कोई उनसे बात करने को राजी नहीं है। गजाधर बाबू बहुत टूट जाते हैं और बूढ़ापे में उन्हें और नौकरी करने को विवश किया जाता है। आज सभी संबद्ध पैसे पर टिके हैं। जब तक पैसा है तब तक सभी अपने है और जब पैसा नहीं है तो पवित्र रिश्ते भी खत्म। जैसे कहावत भी है कि बाप बड़ा न भैया सबसे बड़ा रूपैया।

इक्कीसवीं सदी के कथाकारों में उर्मिला शिरीष कृत निर्वासन कहानी में बूढ़ों की दयनीय स्थिति, उनके अस्तित्व व पीड़ा को अभिव्यक्ति दी है। परिवार द्वारा प्रताड़ित बुजुर्गों के प्रति गहरी संवेदना को व्यक्त किया गया है। इन्होंने अपनी 'हैसियत' कहानी में भी वृद्धों की पीड़ा को अभिव्यक्ति दी है। सुप्रसिद्ध कथाकार मैत्रेयी पुष्पा की कहानी अपना अपना आकाश की अम्मा अपने भाग्य को ही कोसती है वह अपने बेटों के कृत्यों से पीड़ित हैं। मेहनत से संयुक्त परिवार में तीनों बच्चों को शिक्षित कर उच्च पदों पर पहुंचाया लेकिन बेटे मां की ममता और उस दूध की कीमत भूल जाते हैं। अम्मा बेचारी बेटों के समक्ष भिखारिन सी भीख मांगती रहती है। बेटों की वाकपटुता और बुद्धि चातुर्य के समक्ष वह बेचारी निरी मूर्ख बनी पराजित हो जाती है। मंझले बेटे ने अंगूठे पर स्याही लगाते हुए कहा मां– लगाओ अंगूठा। उन्होंने लिख दिया कैलाशो देवी। मां को क्या मालूम कि यही अंगूठा उसकी दस बीघा जमीन को छिन्न लेगा। आज की युवा पीढ़ी ऐसे ही छल कपट से ऐसा करना चाहती है। नासिरा शर्मा ने दुनिया कहानी में प्राचार्या के पद पर बेटी शोभना अपने पिता की बिगड़ती तबीयत का पत्र पाकर भी गंभीर नहीं है और कुछ दिनों पश्चात् उनकी मृत्यु का समाचार पाकर अपने पति से कहती है– सुनो मैं सोच रही हुं जाऊं या न जाऊं। क्यों? सुरेश चौंक पड़ा। अब जाने से भी क्या लाभ। शायद उनको देख भी न पाऊं और मेरे पहुंचने से पहले उनका दाह संस्कार हो जाए तो ! सुरेश– कैसी निराशा भरी बातें कर रही हो। वह तुम्हारा ही नहीं तुम्हारे बड़े भाई का भी इंतजार करेंगे। 'एक दूसरा कथोपकथन भी है। वैसे औरत को कोमल ह्रदय, करुणा, ममतामयी व धैर्यवान प्राणि माना जाता है लेकिन यहां स्थिति प्रतिकूल है। जो गुण औरत में होने चाहिए वह यहां पर पुरुष सुरेश में है। शोभना का व्यक्तित्व बिल्कुल भिन्न है। अपने पति के कहने पर भी वह नहीं मानी और टिकट निरस्त करवाने के बाद पति से कहती हैं 'सुबह से दो मन हो रही थी कि क्या करूं! क्या न करूं। मुख्यमंत्री के यहां चाय पार्टी है और उसमें मेरा जाना जरूरी है। कतई जरूरी नहीं है। तुमको अपने बाबा के अंतिम संस्कार में जाना है। जब मैं जीते जी नहीं गई तो अब जाकर क्या करूंगी। इस संवाद से पता चलता है कि आज इंसान अपने व्यवसाय में इतना व्यस्त हैं कि वह अपने निर्माता ईश्वर तुल्य माता–पिता की भी परवाह नहीं करता। जीते जी तो छोड़ो परंतु मरकर भी नहीं जाना चाहते हैं। अपने पद से प्यार है माता–पिता से नहीं। शोभना इसका उदाहरण है। वही बापू की छड़ी कहानी का पिता अपने बेटे और बेटी की अनुशासनहीनता से दुखी हैं जैसे संवाद है, क्या करूं जीने भी तो नहीं देते। कभी मरने की धमकियां देते हैं तो कभी घर छोड़कर जाने की। इन लोगों ने तो मेरी नाक में दम कर रखा है। ये दुर्भाग्य ही है कि एक पुरुष जिसने कैसे–कैसे मेहनत कर घर बनाया और आज उसे ही घर से निकलने की, मारने की धमकी मिलती है तथा जिसने जन्म दिया आज वो इतना भयभीत हैं कि अपनी सुरक्षा के लाले पड़ रहे हैं। ये अपने आप में बहुत ही दुखद है और वो भी मर्यादा पुरुषोत्तम राम भगवान के देश में, जिस पुरुष ने पिता के कहने पर सब कुछ त्याग दिया था और वनवासी बन बैठे थे।

मनीषा कुलश्रेष्ठ की प्रेत कामना में बंबई में तीन कमरों के बड़े फ्लैट में रिटायर विधुर पिता टूटी दीवार से झरते सीमेंट सा भुर भुरा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। बेटा महीनों बाद कभी खबर लेने आ जाता है। कभी वो जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में एंथ्रोपोलॉजी के विभागाध्यक्ष थे लेकिन आज वो इज्जत नहीं है। अकेलेपन का शिकार है, पत्नी चल बसी है। वैसे ही आभा सिंह की कहानी ऐसे आएगा कल में माताजी पति की मृत्यु के पश्चात अकेले जीवन बिता रही है। बानो सरताज

महाराष्ट्र की लेखिका व कथाकार हैं इन्होंने भी अपनी कहानियों में उपेक्षित बुजुर्ग वर्ग का वर्णन किया है। इनके अलावा संजीव दत्त शर्मा कृत नान, डॉ. शिवन कृष्ण रैणा की कहानी बाबूजी, राजेंद्र कृष्ण की खिड़की एवं हरिभटनागर की माई इत्यादि कहानियां प्रमुख है जिनमें बुजुर्ग समाज उभरकर सामने आया है। इन कहानीकारों के अलावा मिथिलेश, राजी सेठ, चंद्रकांता व सुधा अरोड़ा इत्यादि ने भी बुजुर्ग वर्ग के अकेलेपन, घुंटन, पीड़ा व त्रासदी पर कहानियां लिखी। आज इक्कीसवीं सदी में जितना साहित्य बुजुर्गों को आधार बनाकर लिखा जाना चाहिए था उतना नहीं लिखा गया। अब नये लेखक इस विमर्श को ले रहे हैं अर्थात बुजुर्ग समाज पर लिख रहे हैं। कई पत्रिकाएं भी है जिसमें बुजुर्ग समाज पर आलेख प्रकाशित होते हैं। आज के समय में साहित्यकार ही है जो बुजुर्गों को वह सम्मान व इज्जत अपने साहित्य के माध्यम से दिलवा सकते हैं, साहित्यकार सरकार का ध्यान भी इस समाज पर आकर्षित कर सकते हैं।

बुजुर्ग वृक्ष भले ही फल न दे लेकिन उसका आशीर्वाद यदि किसी ने पा लिया तो कभी भी वह अपने कार्य में विफल नहीं हो सकता। माता–पिता का ऋण चुकाया तो नहीं जा सकता किंतु उनकी सेवा कर, सम्मान करने से उसे कुछ कम किया जा सकता है। मनु स्मृति में इस बात का प्रमाण मिलता है कि बुजुर्गों का नित्य आशीर्वाद लेने एवं उनकी सेवा करने से आयु, विद्या, कीर्ति और बल इन चार गुणों में वृद्धि होती है 'अभिवादनशीलस्य, नित्यं वृद्धोपसेविनः चत्वारि तस्य वर्धंते, आयुर्विद्यायशोबलम्।" बुजुर्गों का आशीर्वाद आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। अतः हमें उनका सम्मान करना चाहिए न कि सिर्फ इस्तेमाल और साथ ही यह बात याद रखनी चाहिए कि वे भारतवंशी है और उसी कुल के वंशज है जिसमें बुजुर्गों का स्थान सर्वोपरि एवं आदरणीय था। फ्रांसीसी लेखक अनातोले का यह कथन याद आता है कि 'काश बूढ़ापे के बाद जवानी आती।' जवानी वह शारीरिक अवस्था है जिसमें नया जोश, ऊर्जा, उत्साह व शौर्य इत्यादि से ओत–प्रोत होती है। जैसे महाभारत में एक तरफ भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा विदुर जैसे महान पराक्रमी योद्धा, अनुभवी, दूरदर्शी व ज्ञानियों की जमात है वहीं दूसरी तरफ दुर्योधन, कर्ण एवं दुशासन जैसे बरसाती पानी से उफनती नदियों की तरह वीर तरूण योद्धा हैं। उस समय यदि इन्होंने बुजुर्गों की बात मान ली होती तो शायद महाभारत का प्रलंयकारी युद्ध न होता। वही एक पुत्र श्रवण कुमार है जो अपने माता–पिता की अनन्य सेवा करके आदर्श पुत्र का प्रतिमान रच गया। हमारा इतिहास इस बात का गवाह है कि वृद्ध चाणक्य के साथ मिलकर चंद्रगुप्त ने नंद के कुशासन का अंत किया।

अतः हम कह सकते हैं कि बुजुर्ग विमर्श आज के युग की आवश्यकता है। आज सोशल मीडिया में माता–पिता व बुजुर्गों पर जब बात चलती है तो हम उसमें बड़ी–बड़ी टिप्पणियां करते हैं। फादर दिवस या मदर दिवस पर बड़े–बड़े आध्यात्मिक विचार साझा करते हैं लेकिन व्यावहारिक रूप में वैसा करते नहीं है। हमारी कथनी और करनी में यही तो अंतर है। हमें आमतौर पर दूसरों के बुजुर्ग अच्छे लगते है, उनसे हम सप्रेम बातें भी करते हैं और खास लगाव सा उनसे हो जाता है वहीं जो अपने घर के बुजुर्ग है, भगवान है उनसे हम नफरत करते है तथा उनकी मजबूरी का फायदा उठाकर हम उन्हें बोझ समझकर वृद्ध आश्रमों में छोड़ देते हैं या कहीं गाड़ी में बैठाकर शहर में छोड़ आते हैं। हर रोज बुजुर्गों के साथ किया गया अमानवीय व्यवहार, उनकी हत्या जैसी खबरें अखबारों में छपती है। आज बहुत दुःख होता है कि इक्कीसवीं सदी के इस सभ्य व शिक्षित भारत में बुजुर्ग सुरक्षित नहीं है। कहते हैं कि बुजुर्ग और बच्चा एक समान होते हैं जैसे मां बच्चे का हर पल ध्यान

रखती है वैसे ही वृद्धावस्था भी होती है तो उनका भी वैसे ही ध्यान रखा जाना चाहिए। वृद्धावस्था में रक्त कम होता है तो इंसान को क्रोध अधिक आता है ऐसे में कई बार यदि बुजुर्ग ऊंचा बोल भी दे तो उसका बुरा नहीं मानना चाहिए। हमें याद रखना चाहिए कि ये अवस्था प्राकृतिक है तथा एक दिन सभी को आएगा। शिक्षित समाज है और लड़के की शादी के बाद ही ये स्थिति बनती है ऐसे में शिक्षित लड़की को चाहिए कि वे जिस तरह का व्यवहार अपने माता–पिता के साथ करें वैसा ही व्यवहार उनसे भी करें। ये बात कड़वी तो है लेकिन इसमें सच्चाई है कि वृद्ध आश्रम जाने की स्थिति हमेशा हमारे समाज में लड़के के विवाह उपरांत ही बनती है। ऐसा क्यो हो रहा है इस पर भी अनुसंधान की आवश्यकता है। एक दोष इसमें हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली का भी है जो अंग्रेजों द्वारा हमारे संस्कारों, संस्कृति व एकता को खंडित करने के लिए लागु की गई थी। एक तो इससे भी परिवर्तित व संशोधित करने की आवश्यकता है और दूसरे हमें अपनी ये मानसिकता बदलनी चाहिए। आज भारत में गौ माता और वृद्ध सड़क पर घूम रहे हैं, गौशालाओं एवं वृद्ध आश्रमों में रहने पर मजबूर है। हमें याद रखना चाहिए कि जिस घर के बुजुर्ग के साथ ऐसा किया जाता है उस घर में कभी सुख शांति नहीं आ सकती, वो घर घर नहीं हो सकता। अतः हमें अपने बुजुर्गो के गुणों व अनुभव का लाभ उठाना चाहिए। वृद्धों के अनुभवों व संस्कारों से युवा शक्ति के जीवन मूल्यों में हो रहे विघटन को रोका जा सकता है। आज हम साहित्य में वृद्ध विमर्श को आधार बनाकर भी समाज में वृद्धों की समस्याओं की तरफ लोगों का ध्यान आकर्षित कर सकते हैं।

संदर्भ–सूची :–

1. उषा प्रियवंदा, वापसी, पृ. सं. ३, भारत दर्शन, हिंदी साहित्य पत्रिका।
2. वही, पृ.सं. ७।
3. मैत्रेयी पुष्पा, चिन्हार, पृ. सं. १५।
4. वही, पृ.सं. १६।
5. उर्मिला शिरीष, निर्वासन, पृ. सं. ३४।
6. नासिरा शर्मा, इंसानी नस्ल, पृ. सं. ६५।
7. वही, पृ. सं. ६६।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री की ऐतिहासिक कहानियों का सांस्कृतिक-अध्ययन

जगदीश मौर्य*

आचार्य चतुर सेन शास्त्री जी का जन्म सन् 1891 ई. में हुआ था और मृत्यु1961 ई. में हुई थी। इन्होंने अपने रचना संसार में अनेक प्रकार की कहानियाँ, उपन्यास, नाटक, आत्मकथा तथा गद्य काव्य इत्यादि की रचना की। इनकी ज्यादातर कहानियाँ ऐतिहासिक ही हैं। यहाँ पर हम उनकी कुछ प्रमुख ऐतिहासिक कहनियों का सांस्कृतिक अध्ययन करेंगे।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री जी प्रारम्भ से ही इतिहास में रुचि रखते थे। जैसे–जैसे इनका अध्ययन का क्षेत्र बढ़ता गया, इनकी इतिहास में रुचि भी बढ़ती गई। इन्होंने सन् 1906–07 ई.में लेखनी को छुआ और एक कविता लिखी जब वह कक्षा 6 में थे। इसके बाद शास्त्री जी के हाथ में मेवाड़ के इतिहास की एक पोथी लगी। उस पोथी का नित्य या पाठ करने से मेवाड़ के वीरगाथा की छाप इनके हदय में उमड़ पड़ी और ये वीरता पूर्वक कहानियाँ भी लिखने लगे। धीरे–धीरे इनका रचना संसार विस्तृत होता गया और ये विविध प्रकार की ऐतिहासिक, काल्पनिक, राजपूती आदि कहानियाँ लिखने लगे। आचार्य जी का मानना था कि इतिहास का सत्य 'चिर' सत्य होता है और साहित्य का सत्य 'स्थिर'। 'चिर' सत्य का अर्थ होता है अमुक काल में ऐसा हुआ और 'स्थिर' सत्य का अर्थ होता है, अमुक काल में ऐसा होता था। इन्हीं कारणों से शास्त्री जी ने एक नवीन रस 'इतिहास रस' की स्थापना कीद्य जिसका तात्पर्य यह था कि साहित्यकार इतिहास के तत्वों को यथावत वर्णन करने के लिये जरूरी नहीं है। साहित्यकार अपनी कल्पना और भावनओं का पूरा प्रयास साहित्य लेखन में कर सकता है। आचार्य जी अपने स्वभाव को व्यक्त करते हुए स्वयं कहते हैं कि "मेरे मन में क्रोध बहुत है, तीव्रता भी कम नहीं। कलुष का भी अंत नहीं। परन्तु साहित्य सृजन में तो मैं केवल दो ही वस्तुएँ काम में लेता हूँ, धैर्य और न्याय। किसी भी दशा में मैं इनसे इधर–उधर नहीं होता। अपनी संपूर्ण चेतना से मै शक्ति–भर सावधान रहकर ही काम चलाता हूँ।"[1]

आचार्य जी पहले एक प्रसिद्ध चिकित्सक भी थे, जिस कारण से इनका राजा–महाराजा और अमीर सेठों के घरों में आना–जाना लगा रहता था, जिसके कारण उनके घर के भेदों को ये भली भाँति जान लेते थे और इन्हें अपनी कहानियों में गोपनीय और रहस्यपूर्ण चरित्रों का अंकन करने में आसानी हो जाती थी। क्योंकि एक कहानीकार को कहानी लिखने के लिये चरित्र, स्वभाव, जीवन, दाँव–पेच, मानसिक घात–प्रतिघात का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना होता है। आचार्य जी की कहानी चाहे जिस प्रकार लिखी गयी हो परन्तु उसमें जीवन की व्याख्या मौजूद रहती है, क्योंकि इनका मानना था कि जीवन की व्याख्या का नाम ही साहित्य है।

अपने कहानी लेखन के सम्बंध में शास्त्री जी ने जिस प्रकार से विपरीत परिस्थितियों का सामना तथा असीमित मेहनत किया था, उसका जिक्र करते हुए वे अपने एक वक्तव्य में कहते हैं कि– "कहानियों मे मैंने बहुत परिश्रम किया। मैं नहीं जनता कि चोरी के लेखकों कि क्या शैली है,

*** शोध छात्र, हिन्दी विभाग, महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा, गुजरात।**

परंतु अपनी एक कमजोरी तो कहूँगा ही कि अपनी कहानी के साथ मै बहुत काल तक रहता हूँ। मैं उसमे डूबता हूँ। उसे घिलदृमुलकर डालता हूँ। फिर उसे रस्सी कि भाँति उमेठ डालता हूँ, उसके बाद उसे रुई कि तरह धुनता हूँ। कहानी के साथ ही अपने ह्रदय और मस्तिष्क की भी मैं यही गत बना डालता हूँ। फिर कहानी और मैं एक हो जाते हैं। तब मैं उनके साथ रोता,हँसता, गाता और नाचता हूँ।"[2]

साहित्य की समालोचना के संदर्भ में शास्त्री जी ने कई प्रसिद्ध समालोचकों की समालोचना पर उँगली उठाई है। इनका कहना है कि कुछ ऐसे लेखक हैं जो कक्षा में बच्चों को पढ़ाते–पढ़ाते आलोचना करने का प्रयास करते हैं। परन्तु इन्हें तो आलोचना करने का ज्ञान भी नहीं होता है। जैसा कि शास्त्री जी अपनी बाहर–भीतर कहानी संग्रह में'कहानीकार का वक्तव्य'में लिखते हैं कि– "उनकी समालोचना की टेकनिक एक प्रकार से निर्जीव यान्त्रिक सी होती है। इनमे बहुत से तो ऐसे हैं जिनका साहित्य में बड़ा नाम है, पर जिस विषय की वे समालोचना करते हैं उस विषय पर उनका अध्ययन नगण्य ही है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी और अध्यापक गुलाबराय जैसे पुराने प्रकाण्ड अध्यापकों तक को समालोचना क्षेत्र में मैं दयनीय समझता हूँ। तब नये आलोचकों की बात तो मैं क्या कहूँ। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का हिन्दी साहित्य का इतिहास पढ़कर मैंने उन्हें लिखा था, या तो आप 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के लेखक हैं या इस हिन्दी साहित्य के इतिहास के। ये दोनों रचनाएँ एक ही पुरुष की नहीं हो सकती।"[3]

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि आचार्य चतुरसेन शास्त्री जी अपने लेखन के दौरान कभी किसी के सामने झुके नहीं। हमेशा सत्य का साथ देते रहे। जैसा हम सब जानते ही हैं कि सच्चाई कड़वी होती है, इसके बावजूद आचार्य जी को जहाँ कहीं भी लगा कि अनुचित हो रहा है,वहाँ पर अपनी हानि–लाभ की परवाह न करते हुए सत्य का ही साथ देते थे। वे बहुत ही स्वाभिमानी तथा अक्खड़ स्वभाव के थे, जिससे वे कहीं भी यदि कोई गलत कार्य देखते तो उनकी वाणी स्वतरू आग उगलने लगती। यहाँ तक कि वे अपने वैद्यक पेशे के दौरान भी राजाओं–महाराजाओं तथा मरीजों के घर आते–जाते रहने के कारण उनके घरों का काला चिट्ठा अपनी लेखनी में ज्यों का त्यों उतार देते थे, परिणाम स्वरूप इनके बहुत से ग्राहक नाराज भी हो जाते थे, परन्तु इन सब की परवाह किये बगैर अपने साहित्य लेखन को सुचारु रूप से जारी रखा।

आचार्य जी ने लगभग चार सौ पचास कहानियाँ लिखीं है। इनकी कुल प्रकाशित रचनाएँ 186 हैं। इनकी समस्त कहानियों को एकत्रित करके 'हिन्द पॉकेट बुक्स' ने पाँच भाग में, पाँच कहानी संग्रह तैयार किया। जिसके शीर्षक अलग–अलग हैं। जो निम्नलिखित हैं–

(1) बाहर – भीतर – भाग – 1
(2) दुखवा मैं कासे कहूँ – भाग – 2
(3) धरती और आसमान – भाग – 3
(4) सोया हुआ शहर – भाग – 4
(5) कहानी खत्म हो गई – भाग – 5

इन संग्रहों के अतिरिक्त इनकी एक बाल कहानियों का संग्रह भी है जिसका नाम है 'दस बाल कहानियाँ'। अब हम यहाँ आचार्य जी की कुछ प्रमुख ऐतिहासिक कहानियों का वर्णन करेंगे।

बावर्चिन– आचार्य जी की यह मुगल कालीन कहानी है। जो मुगल बेगमों के आँसुओं का रेखाचित्र प्रस्तुत करती है, तथा उस समय के अंतिम मुगल सम्राट 'बहादुरशाह' के पतन तथा विनाश की

दारुण कथा को अभिव्यक्त करती है। इस कहानी में कहानीकार ने मुगल कालीन संस्कृति का अनोखा और सत्य घटना का जिक्र किया है। इस मुगल शासक के राज्य का पतन किस प्रकार हुआ, इसका चित्रण हुआ है। इस ऐतिहासिक कहानीमें एक ऐसी संस्कृति का चित्रण किया गया है, जिसमें मुगल बेगम ने अपने पिता की रक्षा के लिये अपने प्यार तक को ठुकरा दिया है। इस कहानी में उस समय मौजूद दिल्ली की संस्कृति का वर्णन करते हुए शास्त्री जी लिखते हैं कि– "भयानक गर्मी से दिल्ली तप रही थी। तब चांदनी चौक की सड़केंआज की जैसी तारकोल से बिद्दी हुई आईने की तरह चमचमाती न थीं, न मोटरों की घो–घो, पो–पो और सर्राटेबन्द दौड़ थी। चांदनी चौक की सड़कों पर काफी गर्द–गुब्बार रहता था। हाथी, घोड़े, पालकी और नागौरी बैलों कि जोड़ी से ठुमकती हुई बहलियाँ एक अजब बांकी अदा से उछला करती थीं।"[4]

आचार्य जी दिल्ली की तत्कालीन स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उस समय दिल्ली कि सड़कों पर आज की तरह विभिन्न प्रकार की रेसिंग गाड़ियां तथा वाहन नहीं चलते थे, अपितु हाथी, घोड़ा, पालकी आदि साधनों के द्वारा रानियां अपने घर से विदा होती थीं।

इसी प्रकार आचार्य जी की एक और ऐतिहासिक कहानी 'अबुलफजल वध' है। यह भी मुगल कालीन कहानी है। इस कहानी के माध्यम से आचार्य जी ने इतिहास की एक प्रसिद्ध घटना का वर्णन किया है। जिस 'अबुलफजल' ने अकबर के शाहजादे के खिलाफ कान भरे थे कि शाहजादा सलीम आवारा, खुदगर्ज, निकम्मा तथा गुनहगार है। बुंदेलखंड के राजा वीरसिंह ने उसी शेख अबुलफजल का सिर काटकर सलीम को राजा बनाने का मार्ग प्रशस्त किया। एक बार जब शेख अबुलफजल और वीरसिंह का युद्ध हुआ तब "शेख ने तड़ातड़ वार करने शुरू किये। महाराज वीरसिंह देव ने और कुछ वार बचाए। अन्त में वो भी युद्ध करने लगे। दोनों और कि सेनाएँ कुछ क्षण युद्ध देखती रहीं। हठात्मुगल दल अर्राकर दौड़ पड़ा। महाराज कि सेना भी टूट पड़ी। एक बार महाराज ने फिर युद्ध रोकने की चेष्टा की, परन्तु इतनें ही में एक गोली शेख की कनपटी को चीरती हुई निकल गई। महाराज खिन्न वदन शिविर में लौट आये।"[5] इस प्रकार से शास्त्री जी ने बुंदेलखंड के शासक वीरसिंह की वीरता, साहस और धैर्य जैसे सांस्कृतिक गुणोंको व्यक्त किया है।

इसी प्रकार हम इनकी एक कहानी' प्रबुद्ध' है जो कि बौद्धकालीन है, इसमें महात्मा बुद्ध के समय के सांस्कृतिक वातावरण तथा भगवान बुद्ध के द्वारा दिये गए विचारों को, अपने जीवन में उतारकर मनुष्य इस दुनियाँ के मोह–माया के बन्धनों से आसानी से छूट जाता है। तथा उन बातों का अनुसरण करके मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है। इस कहानी के द्वारा यह भी दर्शाने का प्रयास किया गया है कि यदि किसी व्यक्ति के मन मस्तिष्क में अंतर्द्वंद चल रहा हो तो किस प्रकार से दूर किया जा सकता है। आचार्य जी ने इस कहानी में राजकुमार 'सिद्धार्थ' के मन में चल रही व्यथाओं को बताते हुए लिखते हैं कि– "वायु–मण्डप कि एक स्वच्छ शिला पर राजकुमार सिद्धार्थ विषणवदन बैठे थे। उनके शरीर पर केवल एक उत्तरीय और अधोवस्त्र था। वे मानों किसी गहन चिंता में मग्न थे। बसन्त की मृदुल वायु उनके काक–पक्ष को लहरा रही थी। कुसुम–गुच्छ झूम–झूम कर सौरभ बिखेर रहे थे। तप्त स्वर्ण के समान उनकी शरीर–कान्ति उन महीन वस्त्रों से बिखरी पड़ती थी। उनका मुख, चिंतन की गम्भीर भावना के कारण प्रस्फुटित किशोरावस्था कि उत्फुल्लता से रहित हो गया था।"[6]

रेणु की कहानियों में ग्रामीण संस्कृति का वर्णन करते हुए बच्चन सिंह ने अपने 'हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास' में लिखा है कि 'रेणु में बदलते हुए गांव को,उनके बनते– बिगड़ते मूल्यों को पूरी समग्रता और जटिलता में पूरी तन्मयता के साथ चित्रित किया है। ऐसी तन्मयी भावना योग्यता अन्यत्र दिखाई पड़ती।'[7]

भिक्षुराज :– बौद्ध भूमि पर लिखी गयी कहानियों में यह सबसे प्रसिद्ध एवं रोचक कहानी मानी जा सकती है। यह कहानी 'टेकनिक' कि दृष्टि से उत्तम कहानी मानी जाती है। पृथ्वी के सम्राट मगधपति प्रियदर्शी अशोक के पुत्र महाकुमार महेन्द्र और पुत्री महाकुमारी संघमित्रा के द्वारा भिक्षुवृत्ति ग्रहण कर बौद्ध धर्म के प्रचार–प्रसार का वर्णन इस कहानी में किया गया है।

किस प्रकार से राजकुमार महेन्द्र और राजकुमारी संघमित्रा 12 बौद्ध भिक्षुओं के साथ बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ निकलेथे, मार्ग में क्या–क्या मुसीबतेंआयीं और किस प्रकार से उनका समाधान करके अपने गन्तव्य मार्ग तक पहुँचे, उसी का वर्णन मिलता है। रास्ते में एक बार जब राजकुमारी संघमित्रा का साहस जवाब दे गया तब वह राजकुमार महेन्द्र से कहती है– क्यों न हम घर वापस लौट चलें, इस पर राजकुमार संघमित्रा को समझाते हुए कहता है कि– "आर्या ! हमने जिस आर्यावर्त की दीक्षा ली है, उसे प्राण रहते पूर्ण करना हमारा कर्तव्य है। सोंचो, हम असाधारण व्यक्ति हैं। हमारे पिता चक्रवर्ती सम्राट हैं। मै इस महाराज्य का उत्तराधिकारी हूँ। मैं जहाँ भिक्षाटन करने जा रहा हूँ, कदाचित उसका राजा करद होकर मेरे पास भेंट लेकर आता। परन्तु मैं उस प्रदेश की गली–गली में एक–एक ग्रास अन्न माँगूगा, और बदले में सद्धर्म का पवित्र रत्न दूँगा। क्या यह मेरे लिये और तुम्हारे लिये भी आर्या संघमित्रा अलभ्य कीर्ति और सौभाग्य की बात नहीं? क्या तथागत प्रभु को छोड़कर और भी किसी सद्धर्मी ने किया था? परन्तु हमें उसकी महाप्रतिष्ठा करने का कैसा सुयोग मिला है, कदाचित भविष्य काल में सहस्त्रों वर्षो तक, हम लोगों की स्मृति, श्रद्धा और सम्मानसहित जीवित रहेगी।"[8] इस प्रकार से राजकुमार के द्वारा यह बात कही जाने पर संघमित्रा तथा और सभी बौद्ध भिक्षुओं मे ऊर्जा का एक नया संचार हुआ। अपनी तकलीफों तथा मार्ग की बाधाओं को भूलकर वे अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ते रहे। राजकुमार महेन्द्र भिक्षुवृत्ति के लिये जहाँ–जहाँ रुंके थे, वे स्थान आज भी सुरक्षित हैं। "इस राजभिक्षु ने जिन–जिन गुफाओं में निवास किया था, वे सभी 'महेन्द्र गुफा' कहाती हैं। अब भी चट्टान में कटी हुई एक छोटी गुफा को 'महेन्द्र की शय्या' के नाम से पुकारते हैं। पहाड़ी के दूसरी ओर 'महेन्द्रकुण्ड' का भग्नावशेष है, जिसे देखकर कहा जा सकता है कि उस पर न जाने कितना बुद्धिबल और धन खर्च किया गया होगा।"[9]

संदर्भ–सूची :–

1. बाहर–भीतर (बावर्चिन), शास्त्री, आचार्य चतुरसेन, 2013, नई दिल्ली, हिन्द पॉकेट बुक्स, पृष्ठ–24।
2. वही, पृष्ठ–41।
3. वही, पृष्ठ–45।
4. वही, पृष्ठ–71।
5. बाहर–भीतर (भिक्षु राज), पृष्ठ–79।
6. बाहर–भीतर (रुठी रानी), पृष्ठ–134।
7. डॉ बच्चन सिंह, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, 2016, नई दिल्ली, राधा कृष्ण प्रकाशन, पृष्ठ 490।
8. बाहर भीतर (जैसलमेर की राजकुमारी), पृष्ठ 147।
9. वही, पृष्ठ 148।

ꙮ★ꙮ

इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कहानियों में नारी-चेतना

राजनाथ दुबे *

वैदिक वांग्मय में नारी की चर्चा सर्व प्रथम हुई है। यहां तक कि उसे वैदिक काल में देवी स्वरूपा कहा गया है। वैदिक काल में नारी के प्रति व्यक्त उद्गार को देखा जाय तो उसमें नारी के प्रति सम्मान की भावना है। उसे एक स्वतन्त्र चेतन सत्ता के रूप में स्मरण किया गया है। वेदो में नारी के गौरव का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। यहां तक कि एक स्थान पर उसे ब्राह्मण भी कहा गया है।

ऋग्वेद के दशम मंडल के 159वें सूक्त में शची का गौरव वर्णित है, वह स्वयं कहती है– **''अहं केतुरहं मूर्धाऽमुग्रा विवाचिनी। ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत्''।।** (ऋग्वेद–10 / 159 / 2) अर्थात मै ज्ञान में अग्रगण्य हूँ। मैं स्त्रियों में मूर्धन्य हूँ। मै उच्च कोटि की वक्ता हूँ। मुझ विजयिनी की इच्छानुसार ही मेरा पति आचरण करता है।

स्मृतिकारो ने नारी को सम्मान देने के लिए स्वयं कहा है। मनुस्मृति में स्वयं मनु ने कहा है– **''यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्रा फलाः क्रियाः''**। (मनुस्मृति 3 / 56) नीति एवं धर्मशास्त्रों में भी नारी को सम्मान देते हुए उसके संरक्षण की बात कही गई है। वह कौमार्य अवस्था में पिता के द्वारा, यौवनावस्था में पति के द्वारा, और वृद्धावस्था में पुत्रों के द्वारा संरक्षित होती थी– **''पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने। रक्षन्ति स्थरविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्रय अर्हति''।।**

वैदिक काल से आरम्भ होती हुई यह विकास यात्रा मध्यकाल तक पहुंची। इस काल में नारी की स्थिति में आमूल–चूल परिवर्तन हुए। वह अब शोषण की शिकार होने लगीं। समाज में उसके अधिकार पुरूषों द्वारा छीने जाने लगे और वह भोग्या मानी जाने लगीं।

हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल के प्रमुख कवि, कबीर ने नारी को सर्पणी के समान बताया है– ''नागिन के दोये फन, नारी के फन बीस। जाका डसा न फिर जिये, मरि है विषपा बीस''।। अर्थात नारी को सॉप से भी विषधर बताया गया है एक स्थान पर पुनः उन्होने कहा है– ''नारी की झाईं पड़त, अंधा होत भुजंग। वह कबीर तिनकी गति, जो नित नारी संग''।। कहने का तात्पर्य है कि नारी की छाया मात्र से ही सर्प अंधा हो जाता है तो उनकी क्या स्थिति होगी जो सदा नारी के संग रहते है? इस प्रकार वह पुरूषो के लक्ष्य प्राप्ति में वह रोड़ा है।

भक्ति काल के प्रमुख कवि गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी स्त्रियों पर कुछ इस ही प्रकार से अपने विचार व्यक्त किए है। रामचरित मानस में उन्होंने लिखा है कि – ''ढोल गॅवार, शूद्र, पशु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी। / नारि स्वभाव सत्य कब कहहीं, अवगुन आठ सदा उर रहही। / साहस, अनृत, चपलता माया, भय, अविवेक, अशौच अदाया''। इस प्रकार पुरूषो ने नारी के गुणों को न

*** हिन्दी विभाग, दयानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय, आजमगढ़, उत्तर प्रदेश।**

समझते हुए उसे इसी अवगुणों में रत माना और उसे गुलामी की सीमाओं में बॉध दिया तथा पुरूषों के द्वारा उसका शोषण होता रहा।

आधुनिक काल की बात करें तो अब स्त्रियों की स्थिति पहले जैसी नही रही आज के वर्तमान दौर में भूमण्डलीकरण और आर्थिक उदारी करण के कारण नारी के जीवन में काफी परिवर्तन आया है। वह पहले की तरह मूकदर्शक बन कर जीना नही चाहती वह घर की चहारदीवारी की बेड़ियों को तोडकर बाहरी दुनिया में जीना चाहती है। वह नौकरी, राजनीति, समाजसेवा, शिक्षा कोई ऐसा स्थान नही है जहां वह पुरूषो की तरह भागीदारी न निभाती हो। अब वह पुरूषो पर आश्रित न होकर स्वयं पर आश्रित है और स्वतंत्र निर्णय लेने में सक्षम है।

इक्कीसवीं सदी में नारी की वास्तविक स्थिति को देखा जाय तो नारी को भी सभी अधिकार प्राप्त है। वह अपनी स्वतंत्रता से कोई भी कार्य कर सकती है। समाज के किसी भी क्षेत्र में वह हर काम करने के लिए वह स्वतंत्र है, फिर भी कहीं कहीं पर उसे पुरूषों के आगे बाध्य होना पड़ता है। उसे कमाने का अधिकार है, परन्तु उस कमाई पर खर्च करने का अधिकार नही। यदि उसे अपनी मर्जी से अपनी ही कमाई के पैसे खर्च करने है तो उस पर उसका अधिकार नही है। परिवार में बच्चे पैदा करने से लेकर बच्चों की पढ़ाई तथा उसके शादी–विवाह का निर्णय लेने का भी उसको अधिकार नही है। इस प्रकार नारी समाज में दोहरे दर्जे का जीवन व्यतीत कर रही है।

इक्कीसवीं सदी की कहानियों में नारी के शोषण, उत्पीड़न, दलन, कुचलन, बलात्कार भय, सन्त्रास, अकेलापन, खालीपन, अजनबीपन, कुंठा आदि का चित्रण प्रभावशाली ढंग से किया गया है। पुरूष प्रधान समाज ने उसे भोग्या माना है और उसका निरन्तर शोषण करता चला आ रहा है। पश्चिम में तो उसे खतरनाक सेक्स का भी नाम दिया गया। जिसके कारण इक्कीसवीं सदी में नारी के सामने बहुत विकराल समस्या खड़ी हो गई है।

इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कहानियों में नारी चेतना को उभारने वाले लेखको में ममता कालिया, उर्मिला शिरीष, मृणाल पाण्डेय, अल्पना मिश्र, मनीषा कुलश्रेष्ठ, मालती जोशी, सुरेखा सिंह, सुधा अरोड़ा, मेहरून्निशा परवेज, कृष्णा अग्निहोत्री, चन्द्रकान्ता, कमल कुमार, नासिरा शर्मा, सुशीला टकभौरे, अनीता भारती, अल्पेश पाठक, मोहम्मद आरिफ, सूर्यबाला, शैलेन्द्र सागर, कविता, आदि प्रमुख है।

इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कहानियों में नारी, नारी का ही शोषण करती दिखाई देती है। 'ममता कालिया' की कहानी **'बोलने वाली औरत'** में वीजी अपनी नौकरानी मीरा और पतोहू शीला का शोषण करती है। बात–बात में वह दोनो को डॉटती रहती है। एक दिन जब शीला जयपुर घूमने जाना चाहती है तो वीजी उसको मना कर लम्बे–चौड़े भाषण सुनाती है। तब शीला से जब नही रहा गया तो शीला उसका विरोध करती हुई कहती है– ''और अब जो आप तीर्थ के बहाने जाती है वह''? इस पर वीजी कहती है– ''तीर्थ को तुम घूमना कहती है इतनी खराब जुबान पाई है तूने ? कैसे गुजारा होगा तेरी गृहस्थी का''?। अन्ततः शोषण का शिकार हुई शीला इसी कहानी में एक स्थान पर कहती है– ''शिकार तो मै हूँ, तुम सब शिकारी हो''।

अल्पना मिश्र की कहानी 'मुक्ति प्रसंग' में घरेलू से कामकाजी होती स्त्री के जीवन का यथार्थ स्वरूप प्रकट हुआ है। इसमें पुरूषवादी मानसिकता के अधीन स्त्री के आर्थिक अधिकारों का हनन

दिखाया गया है। जिसमें इसकी नायिका पिसती रहती है। 'मनीषा कुलश्रेष्ठ' की कहानी **'कठपुतलियां'** में एक स्त्री के शोषण का चित्रण है। उसका अपना कोई नही है और वह एक कठपुतली की भॉति कहानी में नजर आती दिखाई देती है। उसकी शादी उसके दुगुने उम्र के लंगड़े पुरूष राम किशन से सम्पन्न करवायी जाती है। बाप के मर जाने पर उसकी माँ घर, और जमीन को बेचकर भाग जाती है। और इधर उसका सम्बन्ध जोगी नाम के युवक से है तथा उसके पेट में एक बच्चा भी है जो जोगी का है। पंचायत में उसे खड़ा किया जाता है और उससे बच्चे के बारे में पूछा जाना होता है। इस पर जोगी उसे समझाते हुए कहता है– 'कि सही बात बता दे' तब सुगना (नायिका) कहती है 'हो जा जा जाके तू अपना काम देख मुझे जो कहना होगा कह दूंगी'। आगे वह उसका प्रतिकार कर कहती है ''इतनी बड़ी बाते बता रहा है अब तक कहॉ था तू रे'' इस प्रकार वह एक कठपुतली की भॉति जीवन जीने के लिए बाध्य है।

अल्पेश पाठक की कहानी **'थैंक्स राघव'** एक ऐसी कहानी है जिसमें पति तो देश की सुरक्षा करता है और गुण्डों को मारता है परन्तु इसका दुष्प्रभाव उसकी पत्नी को झेलना पड़ता है। जिसके कारण उसकी पत्नी घर में ही डरी, त्रास और कुण्ठा से जीवन जीने के लिए मजबूर है। वह अपने पति राघव से कहती है 'तुम्हारी ईमानदारी ने तुम्हे एक खोखला अभिमान तो दे दिया है मगर इस दुनिया में जीने के काबिल नही छोड़ा। और मुझे मिली है सिर्फ गरीबी और डर''। इसी कहानी में वह एक बार फिर राघव से कहती है ''उसने सरेआम मेरी छेड़खानी की '' इस प्रकार हम देखते है कि पुरूष और स्त्री सम्बन्ध में खटास तो आ ही रही है और इसका दंश स्त्री झेल रही है।

यदि परिवार समाज का केन्द्र विन्दु है, तो नारी इस विन्दु का विस्तार। अतः परिवार के अन्तर्गत उसकी स्थिति को समझने के लिए उसे माता, पत्नी, और पुत्री, के स्वरूप को समझना होगा। परन्तु इक्कीसवीं सदी में पुरूष अपनी जिम्मेदारियों से पीछे भाग रहा है। जिसके कारण समाज में नारियों का शोषण हो रहा है। और वह अपने घर की चहारदीवारी में कैद होकर अपना जीवन व्यतीत कर रही है। इस बात का पूरा चित्रण 'मालती जोशी' की कहानी **'औरत एक रात है'** में मिलता है। घर की जिम्मेदारियों और लोगों के ताने सुन सुन कर सुमि की बड़ी दीदी जान दे देती है। इस पर सुमि लोगों का प्रतिकार कर कहती है ''नही आप गलत क्यों कहेंगे गलत तो उन्होने कहा है जो दीदी के अविवाहित रहने के लिए जिम्मेदार है। अपनी गलती छिपाने के लिए उन्होने यह कहानी गढ़ ली''। वह कहती है ''दीदी शादी नही कर सकी क्योंकि छोटे भाई की पढ़ाई बाकी थी, घर में बूढ़ी माँ थी, क्योंकि मेरी परवरिश करनी थी, सबसे बड़ी बात उसकी शादी के लिए आज तक किसी ने पहल नही की''। इस तरह नारी पुरूषों के जिम्मेदारियों से पीछे हटने के कारण पिस रही है। इसी सन्दर्भ में 'मोहम्मद आरिफ' की कहानी **'फूलों का बाड़ा'** का भी नाम लिया जा सकता है' कहानी के माध्यम से आरिफ ने दाम्पत्य जीवन में स्त्री शोषण, प्रताड़ना, पति पत्नी के मध्य सन्देह, पारिवारिक विघटन, बलत्कार, भ्रूण हत्या, पुरूष चरित्र का घिनौनापन व स्त्री प्रतिरोध को प्रस्तुत किया गया है।

आज के वर्तमान दौर में स्त्री अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपनी देह का उपयोग करने से भी नही कतराती। कहानी **''वह लड़की''** की 'रोजी' एक ऐसी स्त्री है जो अपने बॉस के यौन आम्न्त्रण को स्वीकार कर प्रमोशन पा लेती है तो वहीं 'कविता' की कहानी **'उस पार की रोशनी'** की वर्तिका गृहस्थ नारी के उस रूप को उजागर करती है जिसके लिए अपनी जिन्दगी और

महत्वाकांक्षाएं इतनी जरूरी है कि वह अपने पति सूरज को त्याग कर रवि से सम्बन्ध बनाती है। 'अन्जू दुआ जैमिनी' की कहानी **'बताना जरूरी है क्या'** में स्त्री स्वतंत्रता व स्त्री मुक्ति के नाम पर उच्छृंखल होती स्त्रियों के रूपों का चित्रण है। कहानी की नायिका इतनी बोल्ड है कि बैंक कर्मी के द्वारा उसके प्रोफेशन के बारे में पूछे जाने पर वह कहती है ''डोन्ट राइट हाउस वाइफ''। मै प्रोफेशन में हूँ। ''आई एम प्रोफेशनल काल गर्ल''। इतना ही नही आगे वह कहती है ''मेरी कोई मजबूरी नही थी। मेरे साथ कोई हादसा नही हुआ। मुझे इस पेशे में किसी ने जबरदस्ती नही ढकेला। मै इसमें अपनी मर्जी से आई हूँ... अमीर खानदान से हूँ सो धन की कोई कमी नही थी। अतः स्पष्ट है कि इक्कीसवीं सदी की नारी देह व्यापार के धन्धे में न तो गरीबी के कारण आई न तो किसी विवशता के कारण अपितु यौन वासना के व्यवसाय के लिए आयी है।

इक्कीसवीं सदी की कहानियों में स्त्रियों के स्वछन्द, देह व्यापार, इन्ज्वाय, कामुकता के स्वरूप का ही चित्रण नही बल्कि विधवा तथा तलाकशुदा स्त्रियों की बदलती छवि को पेश करते हुए उनके पुर्नविवाह के प्रति परम्परागत मानसिकता को परिवर्तित करने की बात कही गई है। कहानी **'आंच'** की बाल विधवा 'सुमन' उसकी जमीन हड़पने और इज्जत लूटने आए ठेकेदार मणिकलाल और पण्डित जगन्नाथ की आंखों में मिर्च डाल देती है। अपनी आर्थिक सामाजिक, मानसिक और शारीरिक उत्पीड़न होने के बावजूद वह टूटती नही बल्कि वह अपने प्रेमी दिलीप से विवाह करने का फैसला करती है। लोग गॉव छोड़ने के लिए उसको मजबूर करते है पर वह गॉव में ही रहने का संकल्प लेती है इस कहानी में सुमन एक निर्बल व डरी हुई स्त्री न होकर एक सबल विधवा है।

इस प्रकार हम देखते है कि वैदिक काल से लेकर इक्कीसवीं सदी के स्त्री जीवन में बहुत परिवर्तन आया है। इक्कीसवीं सदी की स्त्री अब पुरूषों पर आश्रित नही है वह प्रत्येक क्षेत्र में अपनी भागीदारी सुनिश्चित कर रही है। अब वह स्वतंत्र है और समाज में स्वतंत्र निर्णय लेने का उसको अधिकार है। इक्कीसवीं सदी के लेखकों ने अपनी कहानियों के माध्यम से सामाजिक मूल्यों को अंकित किया है। इन्होंने नारी चाहे वह शहरी है या ग्रामीण दोनों की ही संवेदना को उजागर किया है। लेखकों ने समाज के यथार्थ रूप को प्रस्तुत कर नारी के व्यक्तित्व को उजागर करने का अच्छा प्रयास किया है। इन्होने मनुष्य के मन में आए विकारों के साथ–साथ दूषित समाज की व्यवस्था में विशेषकर नारी के साथ होने वाले भेदभाव को प्रस्तुत किया।

संदर्भ–सूची :–

1. ऋग्वेद 10/159/02
2. मनुस्मृति 3/56/3
3. कबीर ग्रन्थावली, (नारी प्रसंग)
4. राम चरित मानस (लंका कांड)– गोस्वामी तुलसीदास, गीता प्रेस गोरखपुर, सं0 14वां पृष्ठ 753, 5
5. शिरीष उर्मिला, निर्वासन (मुक्ति प्रसंग), भारतीय ज्ञान पीठ 18, नई दिल्ली प्रथम संस्करण।
6. कुलश्रेष्ठ मनीषा, कठपुतलियां, भारतीय ज्ञानपीठ 18, नई दिल्ली प्रथम संस्करण।
7. मोहम्मद आरिफ, फूलों का बाड़ा, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली।
8. तिवारी रामचन्द्र, हिन्दी का गद्य साहित्य, संस्करण 2008 राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली।
9. जोशी राम शरण, इक्कीसवीं सदी के संकट, संस्करण 2008 राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली।
10. जोशी मालती, औरत एक रात है, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली।

*

अलका सरावगी के उपन्यासों का वस्तु-विश्लेषण

जितेश तिवारी *

सारांश : अलका जी का पहला उपन्यास 'कलिकथा वाया बाईपास' ने हिंदी उपन्यास जगत में एक अलग ही नींव रखी। इस उपन्यास के लिए डॉ. नामवर सिंह को कहना पड़ा कि– ''कलिकथा वाया बाईपास ने हिंदी उपन्यास का स्थापत्य बदल दिया।''[1] इस उपन्यास के लिए 1998 में अलका जी को साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया। उनके दूसरे उपन्यास 'शेष कादम्बरी' के लिए उन्हें बिहारी पुरस्कार 2001 में प्राप्त हुआ। इसके अलावे अबतक अलका जी के चार अन्य उपन्यास भी प्रकाशित हो चुके हैं। 'कोई बात नहीं' उपन्यास 2004 में प्रकाशित हुआ। 2008 में अलका जी का एक अलग प्रकार का उपन्यास 'एक ब्रेक के बाद' आया। 2015 में 'जानकीदास तेजपाल मेनशन' आया। अभी उनका सबसे हालिया उपन्यास जो कि 2018 में प्रकाशित हुआ है वह है 'एक सच्ची झूठी गाथा'।

मूल शब्द : अलका सरावगी के उपन्यासों की कथावस्तु।

प्रस्तावना : अलका सरावगी हिन्दी कथा साहित्य में आज कोई अनजाना नाम नहीं है। अपने पहले ही उपन्यास के लिए साहित्य अकादमी सम्मान से सम्मानित इस महिला उपन्यासकार ने अबतक कुल 6 उपन्यास लिखा है। उनके उपन्यासों के अध्ययन के उपरान्त जो बातें सामने आती हैं वह यह कि अलका जी आधुनिक हिन्दी साहित्य की एक सशक्त उपन्यासकार हैं, इसके पीछे उनकी प्रतिभा और लेखन कला के साथ अनुभव की गंभीरता है।

'**कलिकथा वाया बायपास**' (1998) में अलका सरावगी ने किशोर बाबू जैसे पात्र के जीवन को प्रस्तुत करने में सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और पारिवारिक मूल्यों को ध्यान में रखकर एक बेहतरीन कथा की प्रस्तुति दी है। मारवाड़ी समाज पर आधारित यह उपन्यास किशोर बाबू के परिवार की बात करने के क्रम में इसके इतिहास और वर्तमान को जोड़कर उसपर स्पष्ट राय बनाने की कोशिश करता है। पात्रों की अधिकता के बावजूद कहीं से भी उपन्यास की कथा में कोई विकार पैदा नहीं होता। कई उपकथाओं को मिलाकर बना यह उपन्यास वाकई नये स्थापत्य को प्रस्तुत करता है।

'शेष कादम्बरी' (2001) ने परम्परावादी और आधुनिक सोच के बीच आ रही महिलाओं की समस्याओं पर काफी गंभीरता से विचार किया है। मुख्य पात्र रूबी दी इस उपन्यास के केन्द्र में है जो अपनी नातिन कादम्बरी के लिए, के बारे में, के साथ सोचती है। समाज की अवधारणाओं में नारी के साथ आ रही समस्याओं के निदान के लिए रूबी दी 'परामर्श' नामक संस्था चलाती है। अंततः अपना वसीयत लिखते समय रूबी दी अपनी सारी सम्पति कादम्बरी के नाम करते हुए भी कुछ हिस्सा अपने साथ व सम्पर्क में आयी समस्यायुक्त नारी के लिए भी दे जाती हैं, जिससे यह स्पष्ट संदेश मिलता है कि समाज की समस्याओं को दूर करने के लिए निजता से कुछ ऊपर उठने की आवश्यकता है।

*** शोधार्थी, हिन्दी विभाग, तिलकामांझी विश्वविद्यालय, भागलपुर।**

अलका जी का तीसरा उपन्यास **'कोई बात नहीं'** (2004) में एक शारीरिक रूप से अशक्त बालक शशांक है। उसके जीवन को सामान्य बनाने के लिए उसकी माँ सहित अन्य कई पात्रों की जो सहभागिता हुई है उससे उपन्यास कई अर्थ में मजबूत हो गया है। तेजी से भाग रही जिन्दगी में समस्याओं के आने का सिलसिला भी तेजी से होता है। उन समस्याओं से निपटने में एक वाक्यांश 'कोई बात नहीं' बहुत कारगर सिद्ध होता है। इस उपन्यास में इसी प्रकार की रोचकता के साथ काफी गंभीर से गंभीर मसले पर प्रकाश डाला गया है। शशांक की शिक्षा से लेकर उसके स्वास्थ्य, उसके स्वाबलंबन आदि पर जिस सकारात्मकता से विचार किया गया है वह उपन्यास को पूरा गंभीर बनाता है। अंततः सकारात्मक परिणाम के साथ उपन्यास का अन्त होता है।

'एक ब्रेक के बाद' (2008) उपन्यास अलका सरावगी के पहले के तीन प्रकाशित उपन्यासों से अलग कथावस्तु को लेकर लिखा गया उपन्यास है। आधुनिकता से प्रभावित जीवन शैली जिसमें दिल मांगे मोर वाली बात है पर प्रकाश डालने के लिए अलका जी ने बेहतरीन प्रयास किया है। विज्ञापन की दुनिया में जीने वाला यह ग्लोबल वर्ल्ड शहर ही नहीं गाँव के जन–जन तक अपना पैठ बना चुका है। लोग एक जॉब में ज्यादा दिन नहीं रहना चाहते। लोगों का चित्त स्थिर नहीं हो पाता। सबके अपने–अपने विचार हैं क्योंकि कोई जिसे सही मान रहा है, जरूरी नहीं कि दूसरा भी उसे सही मान रहा हो। केवी जो इस उपन्यास में मुख्य किरदार के रूप में है वह दुनिया को अपनी बात समझाता है मगर उसका खुद का बेटा उससे अलग सोचता है। उसकी पत्नी की सोच अलग है। इस उपन्यास में इस बात का भी जिक्र बखूबी हुआ है कि लोगों को अपनी अस्थिर सोच के कारण कहीं स्थायीत्व नहीं मिल पा रहा है। यह मन के स्तर पर, विचार के स्तर पर, समाज के स्तर पर, स्थान के स्तर पर लगभग सभी स्तर पर देखने को मिल जाता है। बहुत नये तरीके से उपन्यास को विषयानुरूप प्रस्तुति मिली है।

'जानकीदास तेजपाल मैनशन' (2015) उपन्यास में अलका जी ने आधुनिक विकास की यात्रा के सकारात्मक और नकारात्मक प्रभाव पर विचार प्रस्तुत करती कथावस्तु की प्रस्तुति दी है। शहर के विकास के लिए पुरानी ईमारतों को जिस प्रकार तोड़ा जा रहा है बिना इस बात की चिन्ता किये कि उस घर में रहनेवाला उस घर को छोड़ना चाह रहा है या नहीं। उपन्यास में कई जगहों पर जमीन खाली कराने की बात आई है। जगदीप जो खुद अपने मकान को बचाने की जद्दोजहद कर रहा है वह दूसरे की जमीन खाली कराने के लिए हर प्रकार के हथकंडे को अपनाने से नहीं चूकता। इस उपन्यास का अंत यहाँ पहुँचता है कि जयदीप और बुढ़िया दोनों को एक साथ घर छोड़कर भागना होता है।

'एक सच्ची–झूठी गाथा' (2018) एक नये रूप में प्रस्तुत उपन्यास है। इसमें अलका जी ने बहुत रोचक ढंग से कथा को प्रस्तुत किया है। पात्रों की अल्पता इस उपन्यास की एक विशेषता मानी जा सकती है। मात्र दो ही प्रमुख पात्र है गाथा और प्रमित सान्याल जिसके बीच के वार्तालाप को केन्द्र में रखकर उपन्यास का ताना–बाना बुना गया है। किस प्रकार युवामन पर किसी सही–गलत बात की छाप पड़ती है तो उसे बहुत गहराई तक प्रभावित करती है। अलका जी का यह उपन्यास बिलकुल नयाब तरीके से प्रस्तुत है।

अलका जी ने अपने इन छह उपन्यासों में विभिन्न कथा वस्तुओं के माध्यम से अपने उपन्यास साहित्य को विस्तार दिया है। अगर इन सारे उपन्यासों की कथावस्तुओं पर नजर दौड़ाई जाए तो जो समानता देखने को मिलती है, वह यह कि अलका जी ने लगभग सभी उपन्यासों की कथावस्तु में मारवाड़ी परिवार को अवश्य रखा है। मारवाड़ी परिवार को केंद्र में रखकर अलका सरावगी ने अपना पहला उपन्यास 'कलिकथा वाया बायपास' लिखा। दूसरे उपन्यास 'शेष कादंबरी' में भी रूबी दी मारवाड़ी परिवार से ही हैं। तीसरे उपन्यास 'कोई बात नहीं' में भी शशांक का परिवार मारवाड़ी परिवार है जबकि चौथे उपन्यास 'एक ब्रेक के बाद' में भी एक मारवाड़ी परिवार के माध्यम से कथा आगे बढ़ी है। पाँचवें उपन्यास 'जानकीदास तेजपाल मैनशन' पूरी तरह से एक मारवाड़ी परिवार (एडभोकेट बाबू के परिवार) पर ही केन्द्रित है। छठे और अभी तक का प्रकाशित अंतिम उपन्यास 'एक सच्ची झूठी गाथा' में गाथा मारवाड़ी परिवार से ही संबंध रखती है। स्वयं अलका जी मारवाड़ी परिवार से आती हैं। अलका जी के उपन्यासों की इस विशेषता से यह स्पष्ट होता है कि अलका जी ने अपने उपन्यासों में अपने आपको हमेशा रखा है। अलका जी अपने इर्द–गिर्द की जो वास्तविक घटनाएं देखी हैं या महसूस की हैं; उसी को ध्यान में रखते हुए उन्होंने कथा–वस्तु का निर्माण किया है।

दूसरी बात यह कि अलका सरावगी के उपन्यासों में एक अंतर्संबंध देखने को मिलता है। यह अन्तर्संबंध अनायास तो नहीं हो सकता। अलका सरावगी ने कलिकथा वाया बाईपास के पात्रों को शेष कादंबरी के पात्रों से जोड़ कर दिखाया है। शेष कादंबरी में एक प्रसंग है जब रूबी दी किशोर बाबू की बेटी से मिलने के प्रसंग को सोच रही होती है। उपन्यास का लगभग अंतिम हिस्सा होता है। 'मिडिल क्लास बैकग्राउंड' पर रूबी दी का मन सोच रहा होता है। अलका जी ने वर्णन किया है कि ''उनके एक दूर के रिश्तेदार किशोर बाबू दिल की बाइपास सर्जरी करवाकर सिर पर स्ट्रेचर के लोहे से चोट लगने के बाद कुछ सन गए थे। पागलों की तरह तीन–तीन गाड़ियाँ होते हुए भी सड़कों पर पैदल घूमते रहते थे।''[2] इसी संदर्भ में किशोर बाबू की बेटी रूबी दी से सलाह लेने के लिए 'परामर्श' संस्था में आई थी। रूबी दी की परामर्श संस्था के संपर्क में किशोर बाबू की लड़की का आना यह बताता है अलका जी के इन दोनों उपन्यासों में प्रत्यक्ष अंतर्संबंध है। इसी प्रसंग का अंतर्संबंध 'जानकी दास तेजपाल मैनशन' से दिखता है। इस उपन्यास में अलका जी ने ''जयगोविन्द के बड़े जीजा (किशोर बाबू) का कलकत्ता के नए–नए खुले बी.एम.बिड़ला अस्पताल में हार्ट का बाईपास ऑपरेशन''[3] हुआ का जिक्र किया है। यह हम इसलिए कह पा रहे हैं कि अलका जी ने कलिकथा वाया बाईपास में भी इसी प्रसंग का जिक्र करते हुए लिखा है कि– 'कलकत्ता शहर के सबसे नामी अस्पताल में बाईपास सर्जरी करवाकर जब किशोर बाबू आए...।''[4] यही नहीं कई अन्य प्रसंग भी दिखने को मिलते हैं जिससे अलका जी के इन उपन्यासों का अंतर्संबंध सामने आता है।

अलका जी के अन्य उपन्यासों का अंतर्संबंध भी देखने को आगे मिलता है। जैसे 'कोई बात नहीं' और 'एक सच्ची झूठी गाथा' दोनों में समान स्थिति में सीता दादी का जिक्र करना। इनमें इस समान कथा का जिक्र करना भी बतलाता है कि इन दोनों उपन्यासों में अंतर्संबंध है।

अतः एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि अलका जी के उपन्यासों में कई प्रकार से अंतर्संबंध है। वह अंतर्संबंध प्रत्यक्ष रूप से कथावस्तु के आधार पर हो सकता है या अप्रत्यक्ष रूप से चरित्र व उसके विकास में।

अलका जी के उपन्यास की कथागत विशेषता यह है कि उनके उपन्यासों की कथावस्तु में समयानुकूल मुद्दों पर बात रखी गई हैं। 'कलिकथा वाया बाइपास' में जहां अलका जी ने प्रवास की समस्या से लेकर अपने मारवाड़ी समाज के अस्मिता का ध्यान रखते हुए कथा का ताना–बाना बुना है वहीं यह भी स्पष्ट करने की कोशिश की है कि मारवाड़ी परिवार के लोग किसी समस्या के निदान के लिए फैसला लेने के लिए कटिबद्ध होते हैं और किस प्रकार प्रवास में रहकर अपने को स्थापित करते हैं। वहीं 'शेष कादंबरी' के माध्यम से नारी विषयक समस्याओं पर अलका सरावगी ने बहुत बारीकी से बात रखी है। इसमें शादी की समस्याएं, मानसिक समस्याएं, वेश्यावृत्ति की समस्याएं, नशाखोरी की समस्याएं और लैंगिक शोषण की समस्याओं पर खुलकर बात की है। साथ ही साथ महिलाएं को लेकर समाज में किस प्रकार की धारणा है उस पर जोर दिया है। कादंबरी एक नई पीढ़ी का प्रतिनिधित्व कर रही होती है। रूबी दी से लेकर कादंबरी तक पहुंचने की कथा उपन्यास में जाने अनजाने प्रस्तुत की गई है। समाज किस प्रकार से सोचता है इस पर नारी की दृष्टि से बखूबी प्रस्तुति मिली है। 'कोई बात नहीं' उपन्यास की कथावस्तु की विशेषताओं पर अगर बात करें तो इसमें अलका जी ने एक अशक्त बालक के जीवन में आने वाली समस्याओं और उसे पालने में परिवार वालों के साथ आने वाली समस्याओं का बहुत ही सलीके से प्रस्तुति के साथ बौद्धिक स्तर पर उसके समाधान ढूंढने की कोशिश की है। इसकी प्रस्तुति में अलका सरावगी सफल रही हैं। 'एक ब्रेक के बाद' उपन्यास बिल्कुल नई धरातल पर लिखा गया उपन्यास है। यह व्यवसायी दुनिया को ध्यान में रखकर, यह समाज जिधर जा रहा है उस विषय पर केंद्रित कर लिखा गया उपन्यास है। जैसे आज की पीढ़ी नई–नई नौकरियों का त्याग कर देती है, जैसे उसने कल तक उसमें काम किया ही न हो। 'दिल मांगे मोर' वाली स्थिति को प्रस्तुत करने वाली कहानी को लेकर अलका सरावगी ने काफी सशक्त रूप से कथा को विस्तार दिया है। इस नई दुनिया में एक असली दुनिया, इस मायावी दुनिया, इस दिखावे की दुनिया में, एक हकीकत की दुनिया की तलाश करती हुई कहानी, कथावस्तु के रूप में स्थान लिया है। बताना चाहती है कि एक अलग ही दुनिया है और यह बात सच है कि दुनिया अपने हिसाब से चलती रहेगी और नए–नए किरदार आते रहेंगे और समय–समय पर अपना नायकत्व स्थापित करते रहेंगे।

अलका सरावगी ने अपने उपन्यास 'एक ब्रेक के बाद' में प्यार की एक अलग परिभाषा गढ़ी है, जिसमें एक शादीशुदा स्त्री का पति अपनी पत्नी के द्वारा किसी अन्य पुरुष को किए गए प्रेम को भी पवित्र मानता है तथा उसके साथ खड़ा होता है। इस बात को भी लेकर काफी चर्चा की गई है कि एक व्यक्ति प्रेम की तलाश में भटकता हुआ अंत तक प्यासा ही रह जाता है। अंत तक अकेला ही रह जाना यह दर्शाता है कि अपेक्षाएं अनंत हैं, उस पर संयम रखने की आवश्यकता है।

अलका जी ने 'जानकीदास तेजपाल मैनशन' उपन्यास की कथावस्तु में जो बातें सामने लायीं, वो उनकी उपलब्धि मानी जा सकती है। इस विकासवादी दौर में जब पुरानी इमारतों को ढहाकर नई इमारतें बनाने की होड़ चल रही है तब यह उपन्यास स्पष्ट करता है कि पुरानी अवधारणा व मान्यताओं पर नई अवधारणाएं कैसे हावी हो रही हैं। इस तरह अलका जी ने काफी सलीके से कथा तैयार की हैं। एक इमारत के निर्माण से लेकर उसके ढहाये जाने तक की जो रूपरेखा कथावस्तु में तैयार हुई है वह काफी प्रशंसनीय है। एडवोकेट बाबू ने अपनी देखरेख में जानकीदास तेजपाल मैनशन बनवाया मगर न चाहते हुए एक समय ऐसा आ गया जब उनके बेटे जयगोविन्द को उसे

छोड़ना ही पड़ता है। यह जो जबर्दस्ती विकास के नाम पर किया जाता है उससे एक प्रश्न यह उठता है कि क्या सचमुच हम स्वतंत्र देश के वासी हैं या फिर अभी भी उन चन्द लोगों के गुलाम हैं, जो अपने हित के अनुसार फैसले करवा लेता है। थाना की बात हो या आफताब हुसैन जैसे गुंडे की। सब अपने हित को ध्यान में रखकर उन लोगों के इशारे पर नाचते हैं और उनका सहयोग करते हैं जो अपने निजी लाभ के लिए काम करते हैं मगर बताते हैं विकास के लिए। इस तरह से इसकी कथावस्तु को प्रस्तुत करने में अलका सरावगी ने सफलता हासिल की है। एक व्यक्ति अपने भविष्य के लिए अपनी कमाई के लिए दूसरे को घर से बेघर करता है, तो वह भी किस प्रकार घर से बेघर होता है यह दोनों एक साथ चलती है। आदमी को अगर दूसरों के घर से बेघर करने की खुशी है तो उसे अपने घर से भी बेघर होने का गम होता है। यह दोनों घटनाएं साथ–साथ दिखाकर यह स्थापित किया है कि जो कार्य अहितकर अपने लिए होता है वही कार्य दूसरों के लिए हितकर कैसे हो सकता है। जिसे अपने हित के लिए दूसरों का अहित करने में तनिक भी हिचक नहीं होती उसे आईना दिखाने का काम भी हुआ है। अपनी जमीन, अपने घर आदि को बचाने के लिए जयगोविन्द कितनी कोशिश करता है जबकि वही जयगोविन्द प्रीतम भंसाली की बेहाला जमीन को खाली करवाने के लिए दिवचाकर घोष जैसे आदमी के साथ हो जाता है। नब्बे साल की बुढ़िया को बेघर करने के लिए उसे तनिक भी हिचक नहीं होती।

अलका सरावगी के अलग–अलग उपन्यासों की कथावस्तु की अलग–अलग विशेषताएँ हैं। 'एक सच्ची झूठी गाथा' में अलका सरावगी ने इस नई दुनिया जहां इंटरनेट मोबाइल के आ जाने से जो परिवेश बना है उसे भुनाते हुए कथावस्तु का निर्माण किया है। अलका जी ने इसमें आदमी की संवेदना को समझने–समझाने के लिए काफी प्रयास किया है। कैसे एक युवा मन अपने भीतर जहर घोल लेता है कि वह इस दुनिया को ही अपना दुश्मन मान बैठता है। इस दुनिया में उसे अपने लिए जगह ढूंढने की आवश्यकता महसूस होती है। उन्हें लगता है कि इस दुनिया में उसका अपना कुछ नहीं। लोग उसे परेशान करते हैं। इस दुनिया को रहने लायक बनाने के लिए हथियार उठाने की आवश्यकता है, जिससे आतंकवाद, नक्सलवाद जैसी समस्याएं पैदा होती हैं। इस दुनिया में किसी युवा मन को किस प्रकार प्रभावित किया जाता है कि वह बहुत ही कम उम्र में, जिस उम्र में उसे सकारात्मकता के साथ आगे बढ़ने की बात सोचना चाहिए, वह नकारात्मकता के साथ विध्वंश की बात करता है। प्रमित सान्याल नाम के एक बहुत ही कम उम्र के लड़के के साथ अलका सरावगी ने गाथा का एक आभासी संबंध दिखाते हुए कथावस्तु प्रस्तुत की है और कई प्रकार के गंभीर विषयों को जैसे नक्सलवाद, उग्रवाद, साहित्य–रचना, चर्चा का विषय बनाया है। कम उम्र का प्रमित इतना अधिक तर्कपूर्ण बातें करता है कि गाथा जैसी उपन्यास लेखिका उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकीं। इस उपन्यास की एक विशेषता यह कही जा सकती है कि अलका जी ने इसे बहुत ही रोचकता के साथ प्रस्तुत की हैं।

इन सभी उपन्यासों की कथावस्तु की विशेषताओं पर विचार के उपरांत यह कहा जा सकता है कि अलका सरावगी ने अपने उपन्यास में कहीं ना कहीं अपने आपको हमेशा मौजूद रखा है। अगर उलटे क्रम में बात करें तो कह सकते हैं कि 'एक सच्ची–झूठी गाथा' में गाथा अलका सरावगी ही हैं। यह इसलिए भी स्पष्ट हो जाता है कि इसके कई पहलू अलका सरावगी से मिलते हैं; जैसे– इसमें गाथा अपने बच्चों के संबंध में कहती है कि मेरी बच्ची मुझे कहती है कि यह सब कुछ बन

सकती हैं अच्छी मां नहीं।[4] यही बात अलका जी के वास्तविक जीवन में भी रहा है। उन्होंने कई बार अपने साक्षात्कार में इस बात का जिक्र किया है। डॉ. विजय कुमार शर्मा ने अपनी पुस्तक 'अलका सरावगी के कथा साहित्य का मूल्यांकन' में अलका सरावगी के जीवन परिचय को प्रस्तुत करने के क्रम में इस बात का जिक्र किया है कि अलका जी की ''बेटी को माँ से बड़ी शिकायतें थीं।''[6] इसका कारण है कि अलका सरावगी अपने साहित्य की दुनिया में रहने के कारण अपने बच्चों के लिए भरपूर समय नहीं निकाल पाती थीं।

दूसरा अलका सरावगी और उनके पति का जो संबंध रहा है वह भी उभरकर एक सच्ची झूठी गाथा में देखने को मिलती है। अलका सरावगी ही गाथा है इस बात की पुष्टि के लिए हम एक और बात रखना चाहेंगे कि जब गाथा प्रमित सान्याल के सवाल जिसमें वह गाथा के उपन्यासों में नारी की स्थिति पर कह रही होती है। वह कहती हैं कि – 'अगले किस्सों में भी इंजीनियरिंग पढ़ी हुई पत्नी घरेलू औरत रहकर जीवन काट देती है।''[7] यह बात अलका जी के उपन्यास 'जानकीदास तेजपाल मैनशन' की दीपा के लिए ही तो है। इसकी लेखिका स्वयं अलका जी ही तो हैं। यानी अलका जी ही गाथा हैं, इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता। 'कोई बात नहीं' में आरती मौसी की जो झलक दिखती है उससे कहीं ना कहीं हमें लगता है इसमें अलका जी मौजूद हैं। आरती मौसी जो शशांक को केन्द्र में रखकर कहानी लिखती है। वह परेशान है शशांक की परेशानी से। शशांक के साथ उसके शरीर ने धोखा किया है, मौसी के साथ उसके अक्षरों ने।''[8] यहाँ साफ है कि अलका जी ने कहीं न कहीं शशांक जैसे किरदार के कष्ट को महसूस किया है वही महसूसना आरती मौसी के साथ दिखाया गया है।

कलिकथा वाया बाइपास में उपन्यास लेखिका यह जिक्र करती ही हैं कि किशोर बाबू अपना उपन्यास लिखने के लिए स्वयं लेखिका को कथा की रूप रेखा के साथ–साथ सामग्री उपलब्ध कराते हैं। वहाँ तो यह प्रत्यक्ष ही है। इससे ऐसा कहा जा सकता है कि अलका सरावगी अपने इर्द–गिर्द की बातों को सजा कर उपन्यास में प्रस्तुत करती हैं।

निष्कर्ष :–

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि अलका सरावगी एक सफल उपन्यासकार तो हैं ही साथ ही साथ उन्हें सामाजिक, देश काल और भाषा की अच्छी पकड़ है। इसी वजह से अलका जी बहुत दूर न जाते हुए अपने इर्द–गिर्द की कथावस्तुओं के माध्यम से, आसपास की घटनाओं के माध्यम से एक अच्छी कथावस्तु का निर्माण करने में माहिर हैं। अपने जीवनानुभव के माध्यम से उसे सजाने उस छोटी–छोटी कथाओं को पिरो कर एक सुगठित रूप से कथाओं की माला के माध्यम से उपन्यास को प्रस्तुत करने में अलका सरावगी सिद्धस्त हैं। अलका जी की सहजता व सरलता से कथा की प्रस्तुति उन्हें हिंदी साहित्य जगत में स्थापित करने में सहायक सिद्ध हुई है। भाषा की सहजता के साथ–साथ भावों की गंभीरता उनकी रचना को प्रासंगिक व उच्च कोटि के साहित्य में पहुँचाती है। साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है, इस पंक्ति को चरितार्थ करने में अलका जी का साहित्य पूरी तरह सक्षम है। कहीं से भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि अलका जी समाज से परे जाकर कुछ गढ़ते हैं। यथार्थवादिता के साथ अपने साहित्य में एक आदर्श की स्थापना भी करते प्रतीत होते हैं। जिस मारवाड़ी परिवार को डरपोक व दब्बू समझने की बात आती है तो केदार जैसे

किरदार जो खुलकर अपने पिता का विरोध कर देश की बात करता है। किशोर जैसे किरदार का पारिवारिक जिम्मेदारी को समझते हुए सामाजिक बना रहना, रूबी दी का परामर्श जैसी संस्था चलाना, मिसेज चौधरी का परिवार चलाने के साथ समाज की बातों पर विचारवान होना, केवी से समाज का आधुनिकीकरण की बात करवाना और गुरुचरण जैसे नितांत आधुनिक सोच वाले व्यक्ति से प्रेम की सच्ची परिभाषा तैयार करवाना, जयगोविन्द जैसे अमेरिका रिटर्न इंजीनियर को जीने के लिए तरह तरह के हथकंडे अपनाने के लिए मजबूर दिखाना साथ ही प्रमित सान्याल जैसे कम उम्र के लड़के की हथियार उठाने की सोच पर विचार कर अलका जी ने एक विचारवान लेखिका का परिचय दिया है। अलका जी अभी भी निरंतर लिख रही हैं, उनकी रचनाओं से बहुत कुछ मिलने की संभावना अभी बनी हुई है। अभी तक की रचनाओं से ही अलका जी बहुत ही अधिक सफल महिला उपन्यासकार के रूप में जिस प्रतिष्ठित स्थान पर पहुंच गई हैं इससे स्पष्ट होता है कि अलका सरावगी हिंदी साहित्य को समृद्ध करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान निभायी तो हैं ही आगे भी निरंतर इसको मजबूती से निभाती रहेंगी।

संदर्भ–सूची :–

1. कलिकथा वाया बायपास– अलका सरावगी; पृ. – कभर पर।
2. शेष कादंबरी – अलका सरावगी; पृ.180।
3. जानकी दास तेजपाल मैनषन – अलका सरावगी; पृ. 166।
4. कलिकथा : वाया बाइपास– अलका सरावगी; पृ. 5।
5. एक सच्ची झूठी गाथा – अलका सरावगी; पृ. 20।
6. अलका सरावगी के कथा–साहित्य का मूल्यांकन– डॉ. विजय कुमार शर्मा; पृ. 11।
7. एक सच्ची–झूठी गाथा – अलका सरावगी; पृ. 27।
8. कोई बात नहीं– अलका सरावगी; पृ. 118।

ꙮ★ꙮ

ग्रामीण स्त्री का अस्तित्व के लिए जंग : अकाल दण्ड

मनीष कुमार पाण्डेय *

विकट परिस्थिति के दौर में जी रहा गाँव अपने भाग्य को रो रहा सा दिखता है। अकाल रूपी त्रासदी जहाँ तीन सालों से हो, वहाँ का जीवन स्तर कैसा होगा? जहाँ सावन माह भी जेठ की दुपहरी–सी लगती है। जहाँ किसान दिन–प्रतिदिन आत्महत्या कर रहे हैं, लोग शहरों की ओर पलायन कर रहे है। सूखे की इस तंग भरे माहौल में ग्रामीण जीवन विषम–सा हो गया है– चिलचिलाती धूप, पानी का कहीं नामोनिशान तक नहीं, तालाबों के सूखेपन की स्थिति, खेत खलिहान का निर्जीव हो जाना दुरूह जीवन का दृश्यांकन करता है। इसी प्रकरण में सुरजी पर आसक्त हुआ सेक्रेटरी वृद्धावस्था के नजदीक होकर भी अपनी पुत्री समान गाँव की बेटी पर निगाह गड़ाए हुए हैं। एक तरफ अकाल दूसरी तरफ किसानों की दयनीय स्थिति और एक ओर पूंजीपति व शक्ति संपन्न होने पर गांव में अपनी धाक जमाए हुए सेक्रेटरी आम ग्रामीण जन पर अपनी रौब चलाने से बाज नहीं आता। लोकतंत्र के मकड़जाल में जकड़े समाज का आज तक चित्त शोधन नहीं हो पाया। आज भी राजनीति को न समझ पाने वाले लोग चुनावी सफर में ठुमके लगाते हैं। शासन सत्ता में बैठे छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा व्यक्ति अपनी दी गई वादों को भूल उसी जनता की पिछवाड़े लात मार अपना ठेंगा दिखाता है।

'गणतंत्र में आती सामंती बू और जनवाद की धमनियों में प्रवाहित होते साम्राज्यवादी रक्त को देखना सूँघना अभी उसकी इंद्रियों ने अस्वीकार नहीं किया है। तमाम पंचवर्षीय योजनाओं और जनकल्याण कार्यक्रमों के क्रियान्वयन और उनकी सफलता की सरकारी उद्घोषणाओं के पश्चात उसने देख लिया है कि इस पूरी व्यवस्था में वह कहीं नहीं है। प्रचार द्वारा उसे महत्त्व देकर महत्त्वहीन कर दिया गया है, सत्ता व्यवस्था और प्रशासन के नाम पर जो कुछ हो रहा है वह उसके विरुद्ध भीषण और निर्मम षड्यंत्र की भूमिका है।

आम आदमी सत्ता और व्यवस्था की ओर से होने वाले इन प्रहारों से आहत होकर प्रजातंत्र को मजाक बनाने वालों, आजादी को खोखला करने वालों और अपने को निर्वासित करने वाली शक्तियों के प्रति विक्षोभ और आक्रोश का रक्त वमन करने लगा है।[1] सूखाग्रस्त ग्रामीण क्षेत्र में सरकार द्वारा भेजी गई राहत सामग्री गाँव के जनसामान्य के पहुँच से दूर गाँवों के उच्च पद पर बैठे लोगों द्वारा आपस में बांट लिया जाता है। इसके बाद जो बचा, वह आमजन को नसीब होता है। नीचे दूर–दराज के गाँवों को जाती बैलगाड़ी की टेढ़े–मेढ़े रास्ते और सिर ऊपर से जाते हाईटेंशन विद्युत धारा परिवहन करते तारों की समांतर रेखाएं व लम्बे–लम्बे डैने फैलाये विशालकाय खम्भे, शक्ति के अतिरेक से अनवरत झंकारते–फुफकारते, यही विद्युत–धारा दूर–दराज के शहरों को रोशनी से जगमगा रही है और करोड़ों लीटर गैलन पानी से मीलों लंबे पार्कों और विहारों को तर करते रंगीन फव्वारे छूट रहे है। लेकिन गाँवों के लिए इस शक्ति का कोई अर्थ नहीं।

*** शोध छात्र, हिन्दी विभाग, कला संकाय, महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा, गुजरात।**

तात्पर्य यह है कि आज गाँवों के लिए लागू की गयी योजनाओं का पूर्णरूप से क्रियान्वयन हो ही नहीं पाता। जहाँ गाँवों में किसानों व ग्रामीणों की स्थिति दयनीय है वही शहरों में जीवन स्तर उच्च स्तर का है। गाँव में यदि भौतिक सुख सुविधाएं है भी तो धनिको के पास। गरीब तो गरीब ही होते जा रहे है। गाँवों में व्यक्ति को उच्च जाति और निम्न जाति दो भागों में बांट कर काम बांटने में दो अखी की जाती है। परंतु समय के विपरीत स्थिति के कारण गाँव समाज समझौता कर ही लेता है। 'सरकार की ओर से राहत के लिए गाँव के पास बनवाई जा रही सड़क का काम इस साल पूरा हो गया। अब मजूरी करनी है तो दो कोस दूर जाइए। वहां भी रोज–रोज काम मिलना निश्चित नहीं। सौ लोगों को लगाकर दो सौ की भर्ती दिखाई जाती है जो बच गए वो वापस जाएं। मेट और ठेकेदार जिसे चाहे रखें जिसे चाहे वापस भेज दें। मजदूरी देने के नाम पर भी दो अखी। ऊंची जाति वालों का नाम रजिस्टर में दर्ज करा लिया जाता है। लेकिन वे कोई काम नहीं करते। ठूठ पेड़ों की छांव में आकर बैठ जाते हैं और शाम को आधी मजदूरी मिल जाती है। काहे भाई? शुरू–शुरू में बहुत कहासुनी हुई लेकिन कोई सुनवाई नहीं। बोलने वाला अगले दिन काम से बाहर।'[2]

सेक्रेटरी गाँव के लिए अन्नदाता के रूप में पूजा जाता है। आज से नहीं सदियों से बनी हुई है गाँव में लोगों को सहायता पहुंचाने वाला व्यक्ति महानता की श्रेणी में गिना जाता है। महात्मा गाँधी की विचारधारा ग्राम समाज में आज भी जीवन्त रूप में लोगों में देखने को मिलता है। इसी विचार का नाजायज फायदा सेक्रेटरी गाँव वालों से उठाता है। सुरजी किसी तरह अथक मजदूरी कर जो कुछ भी पाती उससे अपने जीवन की गाड़ी हाक रही है। ब्लॉक पर बैठने वाली राहत सामग्री लेकर ग्रामीण जन अपना भरण–पोषण करते हैं। सुरजी भी लाइन लगाकर ब्लॉक से मिलने वाली चीजों को लेने जाती है। राहत सामग्री के नाम पर जो अभद्र टिप्पणियां बांटने वाले करते हैं उसे ग्रामीण महिलाएं लजा जाती हैं। परंतु क्या करें? अकाल की मार सहने से तो ठीक ही है इनकी अभद्र टिप्पणियां सुन लेना। किसी का भी कोई विरोध ना होता। कहीं न कहीं पुरुष प्रधान समाज की इस गिरी सोच को वे अनदेखा अनसुना कर चुकी हैं। इनकी नजरों में यह पुरुष वह बैल है जिसे जब तक दागा न जाए तब तक ये मुँह मारते रहेंगे। ब्लॉक का चपरासी व ड्राइवर बिना किसी लाज शर्म के गांव की महिलाओं पर अपशब्द कहते, 'दुधारूओ को दूध लेने का 'अडर' नहीं है।[3] ब्लॉक पर बंटने वाली राहत सामग्री की हकीकत भी सरकार व सेक्रेटरी जैसे लोगों की पोल खोलने वाला है। जिसमें मिलावटी चीजें ही बाँटी जाती हैं।

पाउडर मिश्रित पनियल दूध के लिए गाँव के लोग लाइन में लड़ रहे हैं। अकाल की विभीषिका में जो मिल जाए वही बहुत है। इन लाइनों में कुत्ते भी एक लाइन बनाए हुए हैं। मनुष्य तो मनुष्य पशु भी कुछ पा लेने की चाह में तपती धूप में कतार में खड़े हैं। किसी तरह किचकिच करने के बाद मिला दुधिया घोल को लेकर सुरजी अपनी झोपड़ी में आयीं। और अपनी बूढ़ी को तथा स्वयं पीकर सुस्त पड़ सो गई। दिन भर की मेहनत के बाद थकी सुरजी की खाली पेट के कारण हालत खराब हो गई थी। पनियल दूध से थोड़ी राहत मिली तो वह सो गई। सुरजी पर सेक्रेटरी की निगाह जम–सी गयी है। वह रात–दिन उसी के विषय में सोच रहा है। मन में पाप पाले हुए सेक्रेटरी बेचौन हुआ जाता है। सुरजी गाँव में ही मालिक टोले में गोबर काढ़ने का काम पकड़ी है। वह सुबह से ही निकल जाती काम पर। एक काम करके लौटते समय शाम के ढलते ही उससे सेक्रेटरी की भेंट हो गई। उसे क्या पता यह सेक्रेटरी मन में पाप पाले हुए हैं। उम्र के इस दहलीज पर भी मन में

हिचकोले ले रहा है। दिशा मैदान के लिए लोटा लेकर जाता, सेक्रेटरी ने उसका दाहिना हाथ पकड़ अपने पास बुलाया। वह तो सम्मान करके आगे बढ़ जाना चाहती थी, परन्तु अकेला देख सेक्रेटरी अपने आप में न रह सका। वह उसे बहलाने लगा। 'प्रेम और वासना में भेद है, केवल इतना कि वासना पागलपन है, जो क्षणिक है और इसीलिए वासना पागलपन के साथ ही दूर हो जाती है, और प्रेम गम्भीर है।[4]

सेक्रेटरी सुरजी अपनी मीठी–मीठी बातों से रिझाने का प्रयास करने लगता है। यह पुरुषों की प्रवृत्ति होती है कि जब उसे स्त्री से कुछ चाहना होता है तो गिरगिट की तरह रंग बदलने लगता है। क्योंकि उसे लगता है कि स्त्री बेवकूफ होती हैं जो इनके प्यार भरे बातों में फस जाती है। यह धारणा बिलकुल गलत है। स्त्री मनोवैज्ञानिक रूप से पुरुष से ज्यादा समझदार व सूझ बूझ वाली होती है। वह तो अब तक इस सोच में थी कि वो इसका नाम कैसे जानता है? सेक्रेटरी बाबू हँसते हुए अपने को ज्योतिष शास्त्र का पंडित बता उसकी हथेली को देखने लगा। उतावलेपन में बहकते हुए वह उसकी हथेली मलने लगा। पाप सवार हो जाने पर व्यक्ति की सोचने समझने की क्षमता खत्म सी हो जाती है। यह मानवीय प्रकृति है कि जब वह उत्तेजित अवस्था में होता तो बुद्धि काम करना कम कर देती है। वह पागलपन का शिकार हो जाता है। जिसके चलते वह वो कर्म कर बैठता है जो वह नही चाहता। सेक्रेटरी भी उसी अवस्था में हो चुका है। वह उसकी हाथ की ज्योतिष गणना करने को कहता है। 'सुरजी ने संकोच के साथ दाहिना हाथ आगे बढ़ा दिया। सिकरेटरी बाबू कुछ देर तक टॉर्च की मरी रोशनी में हथेली को आड़े–तिरछे करके देखते रहे ऐन झुककर। फिर उसके चेहरे पर रोशनी डालते हुए बोले, 'तुम्हारे तो 'राज–योग' है सुरजा! राज–योग जानती हो? रानी–महारानी बनकर राज करने का योग। मैं सोच रहा हूं कि कैसे हो सकता है यह इस सूखा अकाल में?'[5]

रानी–महारानी बनने का सपना दिखाते हुए सेक्रेटरी बाबू अपनी पूरी कोर कसर लगा डाले। साथ ही साथ गरम–गरम सांसे छोड़ते जाते और अचानक सुरजी को अपनी काँपती देह से जोर लगा कर अपनी ओर खींचने लगा। इतने में सुरजी ने जोर का झटका मारा। जिससे सेक्रेटरी खाई में जा गिरा। अभी तक सेक्रेटरी का पाला किसी सिंहनी से नही पड़ा था एक ही झटके में वह चित्त गिर पड़ा। संसार हर व्यक्ति की इच्छा होती है कि वह धन वैभव से सम्पन्न व शक्तिशाली हो। सेक्रेटरी पर अलग ही नशा चढ़ी हुई है। वासना के नशे में चूर सुरजीके ख्याल में दिन–रात बेचौन–सा रहता है। कहते है कि प्यार अंधा होता है। लेकिन यहाँ वासना का नशा सेक्रेटरी तो बेचौन किये हुए है। सुरजी के सौंदर्य पर मुग्ध वह बावरा सा हो गया है। 'मनुष्य में ममत्व प्रधान है। प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता है। केवल व्यक्तियों के सुख के केंद्र भिन्न होते हैं। कुछ सुख को धन में देखते हैं, कुछ सुख को मदिरा में देखते हैं, कुछ सुख को व्यभिचार में देखते हैं, कुछ त्याग में देखते हैं– पर सुख प्रत्येक व्यक्ति चाहता हैय कोई भी व्यक्ति संसार में अपनी इच्छानुसार वह काम न करेगा, जिसमें दुख मिले यही मनुष्य की मनः प्रवृत्ति है और उसके दृष्टिकोण की भी विषमता है।'[6]

सुरजी अब भयवश ब्लॉक पर राशन लेने से डरने लगी है। पुरुष के अभाव में एक स्त्री का जीवन इस पुरुष प्रधान समाज में नर्क के समान रहता है। सुरजी के पति के न रहने के कारण वह

असहाय व बेसहारा–सी हो गई है। सेक्रेटरी द्वारा किये गए दुष्प्रयास से वह डर बस किसी से कुछ नहीं कहती। क्योंकि एक स्त्री का समाज में स्थान तब तक रहता है जब तक वह परदे में रहती है। बेपर्दा होने पर वह अस्तित्व हीन हो जाती है। सुरजी अपनी इज्जत व मर्यादा की रक्षा की खातिर चुप रह जाती है। समाज का डर उसे चुप रहने पर मजबूर कर देता है। अब सुरजी अपने स्वत्व की रक्षा के लिए तटस्थ रहने लगी है। वह अब पुरुष जाति से घृणा करने लगी है उसे अब विश्वास हो गया है कि सेक्रेटरी उसके पीछे पड़ चुका है। वह कब कहाँ से घात लगा दे कुछ नहीं कहा जा सकता। सेक्रेटरी अपना टॉर्च, चश्मा, व चप्पल लेकर रात्रि के आवरण में मन में हवस लिए सुरजी की टटिया की ओर जाता है, वह जैसे ही टटिया में घुसता है उसकी सरसराहट सुन सुरजी सतर्क हो गई। एक तो रात का अंधेरा दूसरी ये मुसीबत। सेक्रेटरी टॉर्च जलाकर चेहरे पर लाइट करता है, कोने में बुढ़िया कराहती हुई दिखती है। बुढ़िया का कराहना सुन सेक्रेटरी अपनापन दिखाने का प्रयास करता है। जब व्यक्ति ज्यादा अपनापन दिखाता है तो समझो जरूर कुछ राज है या तो वह अपना उद्देश्य साधने आया है या आपको किसी बड़े मुसीबत में डालने वाला है, स्थितियां दोनों ही एक समान रहेंगी मतलब दोनों स्थिति में वह कुछ न कुछ अपना स्वार्थ सिद्ध करेगा। 'बूढ़ी की ऐसी हालत। और तूने खबर तक नहीं किया। राहत लेने भी नहीं आई। एकदम त्याग दिया। पागल कहीं की। जान देना है क्या?'7 यदि व्यक्ति पर काम सवार हो जाता है तब तो वह मनुष्य रूपी खूँखार भेड़ियाँ हो जाता है, जो छिपकर कब घात कर दे कोई भरोसा नहीं।

छल–छद्म करना उनके लिए कोई बड़ी बात नहीं। मनुष्य अपने इसी छिपे दुर्भावना के कारण ही दानव हो जाता है। सेक्रेटरी सुरजी को फुसलाते हुए बैठने को कह, शांत भाव से उससे वार्त्ता करना चाहता है। वह बहुत शालीनता से आज अपना दाँव चलना चाहता है। कज वह चूकना नही चाहता। परन्तु सुरजी उसकी बातों में आने वाली नहीं है। वह ललकारती है, 'काहे आपकी मति भरिष्ट भई है सिकरेटरी बाबू।' आवाज दूसरे कोने से आती है– 'हम गरीबन का भी दुनिया मा इज्जत–आबरू के साथ परा रहे देव। हाथ जोड़ित हैं। चले जाव।'[8] विवेक हीन व्यक्ति समाज में मरे हुए के समान ही होता है। सेक्रेटरी की बुद्धि भ्रष्ट हो चुकी है तभी वह इतनी झिड़की के बाद भी सुरजी को धर दबोचने की चाह में, उसके यहां रात्रि में आ पहुँचा। उसे तरह–तरह की उपमा से सुशोभित करते हुए बहलाने का प्रयास करता है। उसकी गरीबी को दूर करने तक की बात करता है। सुरजी अपना आपा खो बैठती है और सिंहनी की भाँति गर्जन करती है कि 'उद्धार जाकर अपनी माई–बहिन का कर दाढ़ीजार। उन्हीं को पढ़ा अपना यह परेमसागर।'[9]

नारी जाति से पुरुष सदैव से छल करता आया है। पुरुषों ने हमेशा एक मनोवैज्ञानिक दबाव बनाया कि एक स्त्री उनके बिना कुछ नहीं। वे उनके बिना कुछ नहीं कर सकती। यही एहसास जता वे सदा से नारी जाति का शोषण करता रहा है। परन्तु सुरजी, सेक्रेटरी किसी भी जाल में नहीं आना चाहती और सेक्रेटरी के बढ़ते कदम को समझ उसने जोरदार लात जमाया जिससे सेक्रेटरी के आगे के दाँत टूटकर बाहर निकल पड़े। मुँह से खून की धार बह निकली। वह भैंसे की तरह हाँफते रहे। फिर वहां से उठकर भागने में ही अपना भला समझा। उसे लगता था कि वह तो अन्नदाता भगवान है कोई क्यों उसकी बातों को नकार सकेगा। लेकिन गलत तो गलत है। अगर व्यक्ति गरीब है तो इसका मतलब नहीं कि वह अपने स्वत्त्व को बेच सकता है। गरीबी के चलते कोई भी व्यक्ति अपने

स्वत्त्व से समझौता नहीं करता। व्यक्ति गरीबी में जन्म जरूर लेता है लेकिन वह गरीब नही होता। गरीबी कोई अभिशाप नही है कि जिसे खत्म ही न किया जा सके। अब तो गाँवों में भी सरकारी योजनाएं गरीबों के लिए आ ही है। गरीबी उन्मूलन पर हर तरह के प्रयास चल रहे है। किसानों को सस्ते दर पर किसानी के लिए कर्ज तक मुहैया कराया जा रहा है। सड़क, बिजली, पानी की भी समुचित व्यवस्था की जा रही है। ये बात अलग है कि अभी ये सारी योजनाएं बड़े–बड़े सेठों तक ही सीमित हो जा रही है। चोट खाया व्यक्ति खूँखार शेर के समान होता है। उन्होंने अपने सभी सेवादारों को वहाँ से भगाया। और लाइट बुझाकर लेट गए। मन ही मन कोस रहा है सुरजी को। जिसने उसकी हालत ऐसी कर दी है कि किसी की मुँह दिखाने लायक नह छोड़ा। यह व्यक्ति की मानसिकता होती है। जब दूसरे के साथ कोई गलत करता है तो अच्छा है यदि खुद वहीं बीते तो बुरा लगता है। वहीं गाँव में एक हलचल और मची की गुनी पंडित की पुत्रवधू फाँसी लगाकर मर गई। लोगों ने इसका कारण लेखपाल को बताया कि गाँव के लेखपाल के कारण ऐसा हुआ।

सेक्रेटरी गाँव में घटित घटना सुन वहाँ पहुँचा। उसे भी लेखपाल से पुराना हिसाब–किताब चुकाना है। इससे अच्छा मौका उसे मिलने वाला नही हैं। साथ ही साथ गाँव वालों की निगाह में भी उसकी कीमत और बढ़ जाएगी। अतः उसको फसाने का किसी भी तरह के प्रयास से वह चूकना नहीं चाहता। वे अपने सेवादारों जल्द से जल्द रंगी बाबू को बुलवाने को भेजते हैं। रंगी उनके सभी कामों का हिसाब–किताब रखते हैं। वक्त का फेर मनुष्य की पहचान मिटा देता हैं। वरना एक दौर था, इनके अपने वंशजों का। 'सब दिन नाही जात समान' अतः व्यक्ति को कभी भी अभिमान नहीं करना चाहिए क्योंकि यह सबसे बड़ा शत्रु है व्यक्ति का। रंगी बाबू को सेक्रेटरी ने किसी खास मकसद से ही बुलाया है। वह किसी बड़े खेल को अंजाम देना चाहता है इसे रंगी बाबू अच्छी तरह जानते है क्योंकि सेक्रेटरी रंगासियार है। बिना किसी मतलब के कभी भी रंगी को इस तरह नही बुलवाता। आखिर में सारा रहस्य मिलने के बाद चला कि सेक्रेटरी के खिलाफ सुरजी ने शिकायत की है कि वह गल्ला ब्लैक करते है। और यह सारा किया धरा लेखपाल का है उसी के बहकावे में उसने शिकायत किया है।

रंगी सोच में पड़ गए कि आखिर सुरजी ऐसा क्यों करेगी जिसे कंप्लेन व कमेटी में फर्क ही नही पता। पर बात सेक्रेटरी कह रहा है तो मानना पड़ेगा। या हो सकता है कोई इसका मजाक बना रहा है। लेकिन जब यह खुद इतना डरा हुआ है तो उनका इस मामले को मजाक में उड़ाना ठीक नहीं। यहाँ सेक्रेटरी अपनी कुचक्र पूर्ण चाल चल एक तीर से दो निशाने साध रहा था। एक तो लेखपाल और दूसरी सुरजी। कोई समझ पाए या न पाए परन्तु रंगी उसकी बातों को अच्छी तरह समझ गया। वह सतर्क हो गया और पहले उसने बात की गंभीरता को समझते हुए विचार विमर्श करने का निर्णय लिया। 'रंगी बाबू का मन करता है ठठाकर हँसे। सुरजी को तो अभी 'कम्प्लेन' और 'कमेटी' का मतलब भी नही पता होगा। इसका मतलब कोई बेवकूफ बना रहा है सिकरेटरी को। लेकिन जब यह खुद इतना डर हुआ है तो उनका इस मामले को फूंककर उड़ाना थीज नहीं। यह गोजर को साँप समझ रहा है तो मुझे उसे खतरनाक नाग कहना चाहिए।'[10]

सुरजी का गाँव के लेखपाल के बहकावे में आकर सेक्रेटरी के खिलाफ शिकायत और उसके चरित्र पर दाग लगाने का आरोप मढ़ सेक्रेटरी ने दांव तो अच्छा चला परंतु रंगी बाबू सेक्रेटरी को अच्छी तरह जानते हैं कि कैसा घड़ियाल यह, जो दूसरों के साथ धोखा करे आज कैसे धोखा खा सकता है। फिर भी वे सुरजी के पास जाते हैं। सुरजी उससे सारी घटित घटनाएं विस्तार से बताती है। 'साफ हो गया कि सिक्रेटरिया मन में पाप पाले बैठा है लेकिन उनकी सुरजी भी तो शरणागत हो गई है। वे रक्षा के लिए वचनबद्ध हो चुके हैं... तो क्या सुरजी के लिए वे सिकरेटरी से बिगाड़ कर लेंगे? यह सिकरेटरी की संगत का ही 'परताप' है कि गल्ले की चोर–बाजारी करके हर महीने हजार डेढ़ हजार रुपए पीट लेते हैं। राशन–पानी की इफरात ऊपर से। वरना आज उन्हें भी राशन लेने के लिए लाइन लगानी पड़ती तो क्या इज्जत रह जाती?'[11] परंतु रंगी बाबू इस ऊहापोह में पड़े रहे कि अब कैसे निपटा जाए? यदि दिया गया वचन तोड़ दे तो गाँव समाज क्या कहेगा? बाकी लोग कैसे विश्वास करेंगे उस पर? किसी व्यक्ति के मन में क्या चल रहा है कोई भी नहीं समझ सकता। सेक्रेटरी अपने अंदर बैठे शैतान को छिपाते हुए रंगी से सुरजी को गाँव से दूर टीले पर बने कैंप में लाने को कह एक जबरदस्त कूटनीतिक चाल चला है। रंगी भलीभांति समझ चुके हैं कि इसके मन में क्या चल रहा है। रंगी सुरजी को लेकर दिए गए वचन के आधार पर उक्त स्थान ले जाते हैं। सुरजी बहुत ही डरी सहमी–सी उसके साथ चल पड़ती है। उसके मन में अनेकों ख्याल चल रहे है। कुछ अच्छे कुछ बुरे वह निर्णय नही ले पा रही है की क्या होगा। क्यो उसे उस एकांत स्थान पर बुलाया है? लेकिन उसे एकांगी पर भरोसा है उसने उसे वचन दिया है उसकी रक्षा का। दोनों ही विचारमग्न हैं उस स्थान पर पहुँच जाते है। रंगी देखता है कि कहीं कोई नहीं एक–दो नौकर चाकर छोड़। तंबू में संचालक के होने का इशारा नौकर करता है।

कुछ ही देर में सुरजी को कैम्प के अंदर बुलवाया जाता है। कैम्प के अंदर सेक्रेटरी नंगे बदन बिस्तर पर पड़ा हैं,और चारों तरफ खुशबू छाई हुई है अगरबत्ती और परफ्यूम की। वह सरहिती भाप कर मारने मारने को मन से तैयार हो चुकी है। अब आर–पार की लड़ाई वह लड़ने को तैयार है। वह सुरजी को बैठने को कह बड़ी शालीनता से बात करना शुरू करता है। बात करते समय उसके मुँह से दारू की बू आती है। वह उससे पान का बीड़ा माँगता है सकुचाते हुए वह पान का बीड़ा आगे बढ़ाती है कि तभी वह उसे जबरदस्ती अपनी ओर खींचता है। वह उस पर टूट पड़ती है और पल भर में उसके शरीर का नाजुक अंग काट डालती है। चारों ओर सन्नाटा–सा छा जाता है। सेक्रेटरी अपने बिस्तर पर लहूलुहान सा पड़ा है। फिर वह सन्नाटा कोलाहल में परिवर्तित हो जाता है। रंगी यह देख धिक्कारता है अपने पौरुष को अपने आपको।

स्त्री का यह रूप देख सभी के होश उड़ गए। नारी जाति को अबला समझना गलत है। वह कभी भी अबला नहीं रही। हमारे भारत देश की संस्कृति हमें सिखाती है कि हमारे देश की नारी दुर्गा, काली, सरस्वती का अवतार है। 'यत्र नारी पूज्यंते रमंते तत्र देवता' अपने धर्मों में भी नारी का ऊँचा स्थान है। नारी समाज से ही इस संसार की सृष्टि हुई है। वह माँ के रूप में पालनहार है, तो दुष्टों का दलन करने में काली। सुरजी के माध्यम से कथाकार समस्त नारी जाति को जागृत करने का प्रयास किया है कि यदि किसी भी स्त्री के साथ अन्याय हो तो वह उसके खिलाफ लड़े। उस शोषक समाज का दमन करें जो उसके पग की बाधा बने। 'जन्म से ही नारी को निर्बल और पुरुष

को सबल मान लिया जाता है, जबकि बुद्धि की दृष्टि से नारी एवं पुरुष समान है। लेकिन पुरुषों ने इस सत्य को अभी पूरी तरह से समझा और स्वीकार नहीं है। यही वजह है कि स्त्री यदि किसी चीज से सर्वाधिक पीड़ित रहती है तो वह है पुरुष ईर्ष्या।'[12] सुरजी जैसी आदमकद पात्र के माध्यम से ग्रामीण समाज में हो रही इस तरह की घटनाओं का उल्लेख कर ग्रामीण समाज के पुरुषों को सोचने पर मजबूर करता है। ग्राम समाज में भी स्त्रियों का अपना हक व अधिकार होना चाहिए। वे सम्मान के साथ जिये ऐसा अवसर मिले।

पुरुष अपनी पाशविक मनोवृत्ति से बाहर निकल मनुष्यत्व का परिचय दे। सुरजी इस कहानी के माध्यम से नारी समाज को मनोबल प्रदान करती है। यहाँ कथाकार ने राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जी की कही गयी उक्ति को पीछे छोड़ दिया है जिसमें कहा गया है कि, 'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी / आंचल में है दूध और आंखों में पानी' यह अब के दौर में संगत नहीं बैठता। अब नारी जाति का स्तर ऊँचा हो चुका है वह पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने वाली है। अब वे सहानुभूति की नही जयशंकर प्रसाद की 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो' के भाव में आ चुकी है। इसका मोल रुपयों पैसों से नहीं लगाया जा सकता। आज नारी चेतना शहरों से ज्यादा गाँवों में देखने को मिलता है। सुरजी सेक्रेटरी के साथ जो किया वह किसी पाप या पुण्य की सीमा में नहीं आता यह न्याय है अन्याय के प्रति। 'संसार में इसीलिए पाप की परिभाषा नहीं हो सकी और न हो सकती है। हम न पाप करते हैं न पुण्य करते है, हम केवल वह करते हैं, जो हमें करना पड़ता है।'[13]

संदर्भ–सूची :–

1. डॉ० रंजन तिवारी, स्वातंर्त्योत्तर हिंदी नाटकरूजनसाधारण के परिप्रेक्ष्य में, 2011, कानपुर, आशीष प्रकाशन, पृष्ठ–127।
2. शिवमूर्ति, केशर कस्तूरी, 2015, दिल्ली,राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ–26।
3. शिवमूर्ति, केशर कस्तूरी, 2015, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ–27।
4. भगवतीचरण वर्मा, चित्रलेखा, 2008, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ–77।
5. शिवमूर्ति, केशर कस्तूरी, 2015, दिल्ली,राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ–28।
6. भगवतीचरण वर्मा, चित्रलेखा, 2008, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ–200।
7. शिवमूर्ति, केशर कस्तूरी, 2015, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ–33।
8. शिवमूर्ति, केशर कस्तूरी, 2015, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ–33।
9. शिवमूर्ति, केशर कस्तूरी, 2015, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ–41–42।
10. शिवमूर्ति, केशर कस्तूरी, 2015, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ–46।
11. शिवमूर्ति, केशर कस्तूरी, 2015, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ–46।
12. शकुन्तला प्रताप वाघ, डॉ. अमरसिंह वघान का नारी विमर्श, 2014, कानपुर, अमन प्रकाशन, पृष्ठ–64।
13. भगवतीचरण वर्मा, चित्रलेखा, 2008, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ–200।

ഇ★ര

अनैतिक-अफसरशाही का उद्घाटन बनाम 'तबादला'

मिथिलेश कुमार मिश्र*

भारत में उपनिवेशकालीन ब्रिटिश राज में प्रशासन में नौकरशाही की सर्वोपरिता थी। ब्रिटिश शासन काल से ही भारतीय प्रशासन नौकरशाही प्रधान रहा है। आई.सी.एस. अफसरों का ऐसा हुजूम तैयार किया जो शक्ति और डण्डे के बल पर शासन तंत्र की गाड़ी खीचते हैं। आई.सी.एस. की सदस्यता गरिमा का प्रतीक मानी जाती थी और शासन सत्ता में इस वर्ग के अधिकारी छाये रहे। स्वाधीनता के उपरांत आई.ए.एस. वर्ग के अफसरों की एक और पृथक जमात खड़ी हो गयी जिसे कुशल और सक्षम प्रशासन का प्रतिरूप स्वीकार कर लिया गया। इसी नौकरशाही ने विगत 59 वर्षों तक शासन सत्ता का स्वाद चखा, शासकीय पदों को गौरवांवित किया और लोकशाही की उपेक्षा की। उपन्यास के संदर्भ में हिंदी के प्रख्यात साहित्यकार व आलोचक प्रो. मैंनेजर पाण्ड़ेय ने अपनी पुस्तक 'साहित्य का समाजशास्त्र' में उपन्यास के सम्बंध में लिखा है कि "समाजशास्त्र के पंडितों ने मनुष्य की समाजी हैसियत की पहचान के विभिन्न रास्ते चुने हैं, उनमें से जो रास्ता साहित्यिक दुनियाँ से होकर जाता है, वह सबसे विश्वसनिय उस समय होता है जब वह उपन्यास की दुनियाँ से होकर गुजरता है, इसलिए कि यहाँ न तो शायरी के नर्मनाजुक इशारे व फिसलन होती है और न ही ड्रामाई सच्चाईयों का मायालोक होता है लेकिन इस विचार के तुरंत बाद वह रिचर्ड होगार्ट का विचार भी पेश करते हैं कि उपन्यास में साहित्यिक कल्पना और सामाजिक यथार्थ की जो रचनात्मक इकाई घुलती–मिलती है वह किसी और विधा में नहीं। यह सच है कि उपन्यास वर्णात्मक विधा है, जिसका जीवन की सच्चाईयों से सीधा और गहरा सम्बंध है।"[1]

उपन्यास के सम्बंध में ये सच्चाईयाँ अपनी जगह पर सही हैं लेकिन सच्चाईयों, गहराईयों और रचनात्मकता का ताल–मेल इतना आसान नही, लेकिन यह भी एक बड़ा सच है कि सच्चाई स्वयं अपने आप में एक आदर्श है, एक कला है, एक इंसानी सौंदर्यशास्त्र की बनावट और दिखावे की इस झूठी दुनियाँ में सच बोलना, सच लिखना, सच प्रस्तुत करना अपने आप में एक जोखिम भरा काम तो है ही, लेकिन अंधेरे से उजाले की ओर बढ़ने का हौसला भी अपने आप में एक कला है । इसकी ताजा सृजनात्मक व कलात्मक मिशाल है हिंदी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार विभूति नारायण राय का नया उपन्यास 'तबादला'।

'तबादला' में राय साहब ने लिखा है–"प्रदेश में तबादला सबसे बड़ा उद्योग था । लाखों की तादात में सरकारी कर्मचारी थे । सरकार जनता से धन लूटती थी उसका बड़ा हिस्सा कर्मचारी सरकार से लूट लेते थे । सरकारी खजाने की लूटपाट से इनका पेट नही भरता था, इसलिए बाकी समय में ये जनता से सीधे लूटते थे । ज्यादातर विभागों में तो सरकार को लूटने के लिए सिर्फ पहली तारीख को ही मौका मिलता था, इसलिए महीने के बाकी दिन ये जनता की फिराक में रहते थे ।"[2]

*** शोध–छात्र, महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, वड़ोदरा, गुजरात– 390024।**

हिंदी प्रदेशों में 'तबादला' का उद्योग में परिवर्तित हो जाना भारतीय समाज और उसके स्वप्न का उद्योग में तब्दील हो जाना है। उद्योग की संस्कृति लूट की संस्कृति को निर्मित करती है और लूट की संस्कृति समाज और जीवन के मानवीय प्रश्नों और शर्तों को बेरहमी से कुचलती ही नहीं, उसके स्वप्नों और आदर्शों को रौंदने में कोई कसर नही छोड़ती और यदि हमारे स्वप्न और आदर्श ही रौंदे गये तो हमारे पास बचा ही क्या? स्वप्नों और आदर्शों का रौंदा जाना हमारे सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों, मान्यताओं और नैतिकता का रौंदा जाना है। 'तबादला' की कहानी हिंदुस्तानी समाज के स्वप्नों, आदर्शों और मूल्यों के निरूपित होने की कहानी है।

'तबादला' का दुःस्वप्न 'रागदरबारी' और 'बारहमासा' के दुःस्वप्न से कही अधिक भयावह और त्रासद है और इसकी निर्मिति में कार्यपालिका, न्यायपालिका, विधायिका और प्रेस बराबर के जिम्मेदार हैं। 'तबादला' दुःस्वप्नों की कथा ही नही, दुःस्वप्नों का 'सेलिब्रेशन' है। यह एक विशाल लोकतंत्र की ऐसा विराट 'सेलिब्रेशन' है जिसे सभी मिलकर 'सेलीब्रेट' करते हैं। गुलाम हिंदुस्तान के दुःस्वप्न भी इतने भयावह नही रहे होंगे जितने कि आजाद हिंदुस्तान के स्वप्न। गुलाम देश के बाशिंदो ने जब रोमांचित कर देने वाली आजादी का स्वप्न देखा होगा और उसके आदर्शों, मूल्यों और सिद्धांतों को रचा होगा, तो सोचा भी न होगा कि आजाद हिंदुस्तान में उसके आदर्शों, मूल्यों और सिद्धांतों की गरिमा तक सुरक्षित न रहेगी। हिंदुस्तानी समाज और संस्कृति की अपहृत गरिमा निराशा को जन्म देती है और आधुनिक प्रशासनिक (औपनिवेशिक) ढ़ाँचे वाले हिंदुस्तानी समाज और उसकी संस्कृति से उपजी निराशा से किसी आशा और उम्मीद की तो नही, पर उस ढ़ाँचे की पुनर्व्याख्या और पुनर्परिभाषा से सृजनात्मक सम्भावना की उम्मीद की जा सकती है।

राय साहब ने बाबू संस्कृति का खूब वर्णन किया है। ऑफिस में बाबू नामक कर्मचारी पर व्यंग करते हुए उन्होंने लिखा है– "इन दफ्तरों में एक ऐसा जीव पाया जाता है जिसे बाबू कहते हैं जिसके बारे में जानकारों का कहना है कि उसे मैकाले नामक एक अंग्रेज विद्वान ने खोजा था ।"[3] आगे वे लिखते हैं कि बाबू की दुनिया की सबसे अहम चीज फाइल होती है। यह कहना बहुत मुश्किल है कि फाइल बाबू के लिए बनी है या बाबू फाइल के लिए। इतना ही कहा जा सकता है कि बिना फाइल के बाबू की कल्पना नही की जा सकती। इन फाइलों के बारे में यह भी कहा गया है कि इन्हें बाबू लिखते हैं और बाबू ही पढ़ते हैं। इसलिए व्यंगकार हरिशंकर परसाई की कहानी 'भोलाराम का जीव' में व्यवस्था की क्रूर अमानवीयता का वर्णन है, जिसकी ओर लेखक ने इशारा करते हुए लिखा है कि– "हिंदी लेखन में तो कई बार बाबू के मरने के बाद उसकी आत्मा इन्हीं फाइलों में भटकती हुई पायी गयी है। कई लेखकों ने रात के सन्नाटे में इन फाइलों के बीच से अजीब दर्दनाक कराहें सुनी हैं । इन्हें वे मृत बाबुओं आत्मा मानते हैं, जिनकी जवानी और समय से पहले आये बुढ़ापे इन फाइलों में दफन है। आज वक्त ऐसा हुआ है कि जिंदगी भर पेंशन बनाने वाले बाबू की आत्मा अपनी पेंशन के चक्कर में उसी सेक्शन की फाइलों में भटकती हुई पायी गयी।"[4]

हिंदी प्रदेश की सामाजिक, सांस्कृतिक और प्रशासनिक संर्चना में अनैतिक आचरण इतना रच–बस गया है। इसलिए इन सामाजिक संरचनाओं में जन्म लेने, साँस लेने और संघर्ष करने वाले लोगों को न तो वह अनैतिक लगता है और न अनैतिकता स्वयं में कोई बुराई। हिंदी प्रदेश की इस

अनैतिक आबोहवा का आनंद उठाने में कोई चूकता नहीं। वह आनंद उठाने में एक–दूसरे को पीछे छोड़ देना चाहते हैं। व्यंग की रसिकता का सृजन यही से होता है। बेहयायी और बेशर्मी में जो जीत जाता है, वर्चस्व उसी का बनता है। इसीलिए राय जी के पात्र बेहयायी और बेशर्मी में एक–दूसरे को पछाड़कर खुद को गौरवांवित महसूस करते हैं। यह अनैतिकता का ऐसा सदाबहारी उत्सव है जो कभी खत्म नही होता। इसकी शुरुआत कही से भी हो सकती है पर अंत कही नही दिखता। कथा के आरम्भ में बड़े साहब कमलाकांत वर्मा अधिशासी अभियंता, प्रांतीय खण्ड़, सार्वजनिक निर्माण विभाग का तबादला कुम्भ के पहले विभागीय हेडक्वाटर के डिजाइन सेल में हो जाता है। उनकी जगह बटुकचंद उपाध्याय नामक अधिशासी अभियंता को लेना है। कमलाकांत वर्मा वह जगह छोड़ना नहीं चाहते हैं और बटुकचंद वही जगह लेना चाहते हैं और उस जगह पर बने रहने के लिए दोनों पैसा खर्च करते हैं, क्योंकि वह पैसा वाली जगह है। कुम्भ मेले के लिए सड़कें और पीपे के पुल बनने हैं, शामियाने आदि अन्य सुविधाओं के लिए पैसे का वारा–न्यारा होना है। कहानी प्रांतीय खण्ड़ के उस शहर से प्रदेश की राजधानी जाती है और वहाँ से पुनः प्रांतीय खण्ड के उस शहर में आती है। कुल इतनी सी कहानी है पर तबादला रुकवाने और करवाने के इस दो–तीन दिन की कहानी में हिंदी प्रदेश की पूरी दुनिया बड़े नारकीय ढ़ंग से जीवंत हो उठती है ।

यह नारकीय जीवंतता ही इन प्रदेशों की व्यवस्थागत गतिशीलता है, यदि इसे गतिशील कहना चाहें तो राय साहब के पात्र हिंदी प्रदेश के चरित्र और स्वभाव के ही विस्तार हैं। ये चरित्र वे आईने हैं जिसमें हिंदी प्रदेश अपना चेहरा देख सकता है। चरित्रों के निर्माण समाज और संस्कृति के निर्माण से ही सम्भव होता है। पर जब ये आधुनिक सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थाएँ ही नैतिकहीन हो गयी हैं तो उनके चरित्रों से हम नैतिकता की उम्मीद कैसे कर सकते हैं। अनैतिकता गतिशीलताओं और विद्रूपता की भी सीमा होती है। 'तबादला' के चरित्र अपनी अनैतिकता और विद्रूपता से क्या सिद्ध करना चाहते हैं? क्या इन चरित्रों से ही हिंदी समाज का निर्माण होना है? फिर वह निर्माण कैसा और किस तरह का होगा, यह सोचना भी किसी दुःस्वप्न से कम नही है।

इस उपन्यास की केंद्रीय कथा तबादला है, बाकी तो सब उपकथा है। पर राय साहब ने इस कथा के साथ अनेक उपकथाओं के माध्यम से हिंदी समाज के लगातार पतित होते जाने की कथा कहते हैं। उन्होंने जिस तबादला को उद्योग में परिवर्तित होते देखा है, उस उद्योग से जुड़े लोगों और उनके संसाधनों को नैतिकता के दायरे में लाते हैं। भारतीय समाज के ये वे लोग हैं जो परिधि के अंदर है और देश और समाज को लगातार अनैतिक रूप से क्षतिग्रस्त कर रहे हैं और जो परिधि के बाहर हाशिये पर दलित, वंचित, शोषित और पिछड़े हैं, वे इसकी भरपाई करते हैं।

'तबादला' के अधिकारियों, बाबुओं, ठेकेदारों और दलालों के व्यवहार से अश्लीलता, फूहड़पन, उजड्डता, काइयाँपन और घाघपन व्याख्यायित ही नही होते, बल्कि वे इसी से ऊर्जा ग्रहण करते हैं। ऐसी ऊर्जा जिससे किसी सभ्य समाज और संस्कृति का निर्माण नही होता। उस ऊर्जा से निर्मित सामाजिक परिवेश और छवियों को निर्मित देख गहरा असंतोष होता है। राय साहब इस उपन्यास के माध्यम से हिंदी प्रदेश के सार्वजनिक जीवन में आयी गिरावट को एक विमर्श में बदलते दिखाई देते हैं।

अपने देश और समाज की नैतिक चिंता ही विभूति नारायण की सार्वजनिक नैतिक चिंता है। यह जानते हुए कि, "तबादले और लाइसेंस राजधानी के साहित्य और संस्कृति थे। राजनेताओं के घरों, दलालों के ठिकानों, पार्टी दफ्तरों और सचिवालय कक्षों में चौबीस घंटे इन्हीं पर गोष्ठियाँ होती रहती थी। राजनितिक दलों के घोषणा पत्रों में बड़ी–बड़ी बाते लिखी जाती थी, पर उनके कार्यकर्ता जानते थे कि लिखी बाते प्रमाण नही होती। चुनाव खत्म होते ही चौराहों पर गायें घोषणा पत्रों को खाती दिखाई पड़ने लगती थी। नेता लोग वापस तबादला, लाइसेंस उद्योग में लग जाते ।"[5]

तबादला और लाइसेंस उद्योग की दुनिया का विस्तार अन्य दुनिया में भी होता है जिससे अनैतिक और अपराधिक दुनिया के तंत्र का स्थायित्व और वर्चस्व बनता है। कमलाकांत और बटुकचंद की अनैतिक तरीके से अर्जित की जानी वाली दौलत की भूख तबादला उद्योग को पालती–पोषती और समृद्ध ही नही करती, बल्कि सामाजिक और प्रशासनिक व्यवस्था के तंत्रों को भ्रष्ट एवं संवेदनशील भी बनाती है। क्रूरता, दुष्टता और अपकीर्ति से लाभांवित और प्रसिद्ध होना सिखाती है जिससे चिढ़ और निराशा का जन्म होता है। सामाजिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था को नियंत्रित और संवेदनशील बनाने वाली राजनीति स्वयं में उद्देश्य विहीन, अनियंत्रित, संवेदनहीन और नैतिक पतन की शिकार है। जिस सामाजिक व्यवस्था में बेशर्मी को कामयाबी की सबसे बड़ी सीढ़ी माना जाता हो और शर्मिंदगी को राष्ट्रीय नीति के खिलाफ माना जाता हो ऐसे समाज और राष्ट्र को कहाँ से संस्कारित किया जाना चाहिए। येन केन प्रकारेण अर्जित अनैतिकता तत्कालिक भौतिक साधन जीवन और समाज में सुविधा और समृद्धि तो प्रदान करते हैं किंतु समाज में लोभ, लालच और स्वार्थ साधने के लिए जिस 'शार्टकट' को जन्म देते हैं, वे मनुष्य की सामाजिक और आध्यात्मिक वृत्तियों को बौना बनाकर छोड़ते हैं।

मध्यवर्ग जो इस देश के निर्माण में कम और उसे लूटने में ज्यादा लगा हुआ है, 'तबादला' के मध्यवर्गीय चरित्र उसके जीवंत उदाहरण हैं। यह मध्यवर्ग भ्रष्टाचारी, जातिवादी, साम्प्रदायिकतावादी, फाँसीवादी और पाँप राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों का लगातार शिकार ही नही होता गया है, बल्कि इन प्रवृत्तियों को मजबूती भी प्रदान करता रहा है। हिंदी प्रदेश अपनी जातिवादी मानसिकता को सिद्धांत में नही, व्यवहार में जीता है। बटुकचंद उपाध्याय ने, "दफ्तर में चपरासी की जगह पर भी किसी शूद्र को नही घुसने दिया और इस तरह वे अपने दफ्तर में तो जमादार की नौकरी भी सिर्फ ब्राह्मणों को देते हैं। यह बात और है कि उनके दफ्तर में कोई ब्राह्मण चपरासी या जमादार अपना काम खुद नही करता और अपनी तनख्वाह का चौथाई देकर दूसरों को काम पर रख लेता है।"[6]

यह एडवांस जातिवाद है जो मध्यवर्गीय जातिवादी मानसिकता की मजबूती प्रदान करता है। बटुकचंद उपाध्याय और कमलाकांत वर्मा के बीच 'तबादले' के संघर्ष में कितना जातिवादी संघर्ष है, यह हमें एक–दूसरे अध्ययन की ओर ले जाता है। बटुकचंद उपाध्याय के जातिवाद का शिकार लाला बाबू भी हुए थे। बटुकचंद के बार–बार न चाहने के बावजूद भी लाला बाबू उसी दफ्तर में बने रहे तो निश्चय ही इसके लिए भी उन्होंने 'वक्त और ईश्वर' को धन्यवाद जरूर दिया होगा। निम्नमध्यवर्गीय चरित्रों के प्रति लेखकीय और वैचारिक सहानुभूति यथार्थ की सही पहचान से उपजी सहानुभूति है, "कमरे में दो हिंदुस्तान थे। एक में साफ–सुथरे कपड़े पहने, चिकने गालों और बाहर निकले पेटों वाले सात अफसर थे जो बटुकचंद के दायें–बायें बैठे थे। दूसरे हिंदुस्तान में सामने बैठे बाबू लोग थे

जिनकी कमीजों के कॉलर गंदे थे, ठुड्डियों पर बालों के गुच्छे थे और जिनके पेट और गाल दोनों चिपके हुए थे ।"[7]

दूसरा हिंदुस्तान ही वास्तविक हिंदुस्तान है और इसी हिंदुस्तान का निर्माण होना है। पर पहला हिंदुस्तान दूसरे हिंदुस्तान के निर्माण के स्वप्न को दुःस्वप्न में बदलता है और यह दुःस्वप्न भारतीय लोकतांत्रिक संस्थाओं की अनंत अनैतिक आचरणों की कथा को निर्मित करता है और अनंत अनैतिक आचरण अनंत चरित्रों को। यह तबादला कमलाकांत वर्मा और बटुकचंद उपाध्याय का ही नही हैं बल्कि यह उद्योगों की शक्ल लेता हुआ हिंदुस्तानी सामाजिक और सार्वजनिक जीवन में उत्पन्न आपसी गलत आचरणों का 'तबादला' है। यह गतिशील स्थायी तबादला है जो हिंदुस्तानी लोकतांत्रिक संस्थाओं की अभिशप्त नियति है। प्रेस और न्यायपालिका भी इस आचरण से मुक्त नहीं है। नैतिक दायित्व बोध से मुक्त अखबार और उनके मालिकों के लिए बैंकों और सरकारी संस्थाओं का पैसा आसानी से उपलब्ध हो जाना उनकी अखबारी ताकत को ही नही दर्शाता बल्कि इसी ताकत के बल पर वे अपने जूट, सीमेंट, तेल, जमीनों की खरीद–फरोक्त, चिटफंड़ों और राजनीतिक दलाली धंधों में बिना किसी बाधा के फल–फूल रहे हैं। ऐसी पत्रकारिता की दुनिया में हलवाहों, हज्जामों या चूरन बेचने वालों की दुकानों में मौजूद तमाम महत्वाकांक्षी नौजवानों का तीन सौ रूपये में ही पत्रकार बनने के लिए तैयार हो जाना स्वाभाविक ही लगता है। अखबारों की हाकरी से अपना जीवन आरम्भ करने वाले लल्लन राय अखबार बेचते–बेचते पत्रकार बन जाते हैं और पत्रकार बनते ही दलाल बन जाते हैं। ऐसे अखबारों की दुनिया के लिए यदि आदर्शवाद एक फालतू शब्द हो जाये, तो वह हमें चकित नही करता। किसी हॉकर का पत्रकार बनना तकलीफदेय नही हैं, तकलीफदेय है उसका दलाल बन जाना। राय साहब बड़े उद्योगपतियों से लेकर मंझोले उद्योगपतियों के अखबारी धंधे के वास्तविक चरित्र को रेखांकित करते हैं ।

आज के सूचना प्रौद्योगिकी के समय में जहाँ सारी चीजें उद्योग में तब्दील हो रही हो और उद्योग भौतिक सफलता को संवेदनहीनता के रूप में प्रचारित करने में कोई कोर–कसर न छोड़ रहा हो, इस प्रभाव से भारतीय राजनीति ही नही नौकरशाही भी अछूती नही है। भारतीय नौकरशाही की संवेदनहीनता का शिकार भारतीय नागरिक समाज ही नही, पेड़–पौधें, वनस्पतियाँ और पशु–पक्षी भी है, "भारतीय नौकरशाहों को दुःख इस बात का था कि अंग्रेजों जैसी चतुर और साहिबी तबीयत की कौम ने ऐसे–ऐसे महकमें बना दिए थे जो नौकरशाही के लिए कलंक की तरह थे। अगर उनके बीच कुछ ऐसे सिरफिरे थे जिन्हें वनस्पतियों, पशु–पक्षियों या जनजातियों जैसी बेकार की चीजों के पीछे मारे–मारे फिरना अच्छा लगता था तो उन्हें करने देते ये सारे काम। वे लिखते रहते किताबें, बनाते रहते गजेटियर। पर यहाँ से जाते–जाते तो उन्हें ये सारे फिजूल के महकमें खत्म ही कर देने चाहिए थे। यह क्या बात हुई कि उनके जाने के बाद भी कुछ भारतीय नौकरशाहों को झाड़–झंखाड़ साफ करने पड़ रहे थे।"[8]

अपने निहितार्थों के फलस्वरूप ब्रिटिश नौकरशाही को जो करना था, उन्होंने वह किया किंतु आजादी के बाद भारतीय नौकरशाही की संवेदनहीनता क्या यह द्योतित नही करती कि भारतीय समाज के प्रति उसका उत्तरदायित्व और जवाबदेही भी नही रह गयी है? उपन्यास में सरकारी दफ्तरों का जो चित्र उभरता है, वह यह है– "पूरे कमरे में सिगरेट के टुकड़े और राख बिखरी हुई थी और

राख बिखरी हुई थी और कमरे के हर कोने में दीवारे पान की पीक से अमूर्त चित्रकला का नमूना पेश कर रही थी। दफ्तर में बड़े साहब के कमरे को छोड़कर सभी कमरों की ऐसी ही हालत थी और इस कमरे में भी दूसरे कमरों की तरह सरकारी काम के अलावा सब कुछ होता था।"[9] और "सरकारी रिकार्ड में सड़क के नाम से जो चीज दर्ज थी उसे शौचालय या मूत्रालय जैसे किसी नाम से पुकारा जा स्कता था। दोनों पटरियाँ और आधी सड़क बेरोजगारी और आवास नामक समस्याओं को हल करने में इस्तेमाल हो रही थी। इन सब के अलावा यह सड़क चलने के भी काम आती थी। यही सबसे बड़ा आश्चर्य था जो सिर्ग हमारे देश में ही सम्भव हो सकता था।"[10]

अतः कहा जा सकता है कि इस उपन्यास को पढ़ने के बाद गंदगी से भरे पड़े सरकारी भवनों, दफ्तरों और सड़को आदि की जो तस्वीर उभरती है, उससे भारतीय नौकरशाही की संवेदनशीलता और सौंदर्य बोध का प्रश्न उठना स्वाभाविक है। क्या इनका जीवन सुंदर और सुरुचि पूर्ण नहीं है और यदि है तो इनके जीवन और राष्ट्र के जीवन में कितना ताल–मेल है? भारतीय नौकरशाही ने यदि किसी चीज का सबसे अधिक निरादर किया है, तो वह 'एस्थेटिक' या सौंदर्य का। गरीबी का भी अपना सौंदर्य बोध होता है, पर क्या हमारे गाँव, कस्बे, बस्ती, नगर और महानगर अपनी गंदगी के नाते जाने जायेंगे ? इस गंदगी से हमारे खाद्य पदार्थ भी नही बचे हैं।

संदर्भ–सूची :–

1. पाण्ड़ेय, प्रो. मैंनेजर दृ साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकुला, संस्करण–1989, पृष्ठ संख्या–32।
2. राय, विभूति नारायण–तबादला, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण–2004, पृष्ठ संख्या–133।
3. वही, पृष्ठ संख्या–90।
4. गुप्त, शम्भु एवं जैन, सर्वेश–अनहद गरजै, शिल्पायन, दिल्ली, संस्करण–2012, पृष्ठ संख्या–355–356।
5. राय, विभूति नारायण–तबादला, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण–2004, पृष्ठ संख्या–130।
6. वही, पृष्ठ संख्या–119।
7. वही, पृष्ठ संख्या–73।
8. वही, पृष्ठ संख्या–162।
9. वही, पृष्ठ संख्या–131।
10. वही, पृष्ठ संख्या–59।

'समुद्र में खोया हुआ आदमी' उपन्यास की सामाजिक त्रासदी

शिव कैलाश यादव *

मध्यवर्गीय व्यक्ति अपने जीवनकाल में दोहरे संघर्ष से गुजरता रहता है। एक तरफ उसका आत्म संघर्ष उसे दबोचा करता है, तो दूसरी तरफ उसे अपनी संस्कृति, सभ्यता, परंपरा से मिली सामाजिक पूंजी खींचती रहती है। इस खींचतान के खेल में मध्यवर्गीय व्यक्ति व समाज लगभग उलझा हुआ जीवित रहता है। या हम यूं कहें कि उसके जीवन में दोहरे स्तर पर संघर्ष चलता रहता है। वह कभी स्वयं को व्यक्तिगत तौर पर बहुत अधिक ठोस बनाने में लगा रहता हैं, तो कभी सामाजिक रूप से स्वयं को संभालने में लगा रहता हैं कि कहीं किसी भी तरफ से कुछ टूट न जाए, या कुछ छूट या विघटित ना हो जाए। यह जिम्मेदारियां उस पर अधिक हैं जो की उस पर मिथक की तरह अपना स्थायी प्रभाव बनाए हुए हैं। इन्हीं मिथकीय व दोहरे संघर्ष के मध्य यह मध्यवर्गीय समाज व व्यक्ति दोलायमान व संचरणशील रहते हुए जीवनयापन कर रहा हैं। और संघर्ष की इन्हीं संघर्षों में व्यक्ति व समाज कई बार टूट कर बिखर जाता है,तो कई बार छटपटा कर रह जाता है। जबकि कई बार वह विद्रोह करता है, इन्हें तोड़ने की सफल–असफल कोशिशे भी करता है। फिर भी उसकी जिंदगी की उलझने कम या खत्म नहीं होती हैं। और फिर ऐसा लगने लगता है कि जैसे यही उसके जीवन की नियति हैं, प्रयोजन हैं। यहीं उसका सम्पूर्ण जीवन हैं।

स्वतंत्रता पश्चात एक ऐसे नवभारत का उदय होता है। जो कि सदियों की गुलाम दासता से मुक्त हुआ था। इस मुक्त व नए भारत में स्वप्ननो की एक नई दुनिया थी। जिसमें सब कुछ अपना होगा। हर कोई खुशहाल होगा। अब किसी को ब्रिटिश हुकूमत जैसी क्रूर व्यवस्था व सत्ता के हाथों पतन की आशंकाएं नहीं रह गई थी। उसी आजाद भारत में मध्यवर्गीय व्यक्ति व समाज की सामाजिक आर्थिक संघर्ष क्या हैं, उसकी जीवन गाथा का क्या स्वरूप है। उसके जीवन की विसंगतियां व विडंबनाएं क्या है। और उसे कहां से कहां लाकर खड़ी कर दे रही हैं। इन्हीं जीवन संघर्षों को विभिन्न परिवेशों व पत्रों के माध्यम से व्यक्त करने वाले सफल कथाकार व साहित्य प्रेमी कमलेश्वर हुए। जो जिंदगी के उधेड़बुन, उसकी तुरपाई, टाका, संघर्ष व उसे आगे बढ़ाने की जो जद्दोजहद है वह बखूबी अपने उपन्यासों में चित्रित किया है। इनके ज्यादातर उपन्यास लघु उपन्यास की श्रेणी में आते हैं। पर उनकी कथावस्तु अत्यंत गंभीर व जीवंत जीवन सत्य की उलझनों को पिरोए हुए जीवन गाथाए हैं। इन्हीं जीवन गाथाओं को कहता हुआ 'समुद्र में खोया हुआ आदमी' उपन्यास हैं। जिसमें शहरी मध्यवर्गीय समाज व परिवेश के संघर्षों की कथा हैं। जिसके सामाजिक विषयों, संघर्षों, सशक्तिकरण आदि बिंदुओं पर चर्चा करेंगे। 'समुद्र में खोया हुआ आदमी' के माध्यम से हम यह कह सकते हैं कि मध्यवर्ग का सीधा सा संबंध एक द्वन्द्व, छटपटाहट व जिंदगी की जद्दोजहद से है। और यही इस समाज की मुख्य धुरी है। संबंधों की बुनावट हो या जीवन की छटपटाहट वह इसमें अधिक संवेदनात्मक व संवेदनशील अवस्था में पाया जाता है। समाज का पुनर्गठन, विचारों की क्रांति, जीवन पद्धति में बदलाव की नई किरणें मध्यवर्ग के नए सोपान हैं। जो परिस्थितियों एवं

*** शोधार्थी, हिन्दी, महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बडौदा, गुजरात।**

समाज की मांग है। आज वह अपनी बनी बनाई पुरानी धारणाओं में बदलाव करते हुए नए मार्ग व नए रास्ते पर चल रहा है। यह कोई शौक वस नहीं बल्कि आज के जीवन परिवेश से उपजी हुई समय की मांग है।

समुद्र में खोया हुआ आदमी को हम एक प्रतीकात्मक उपन्यास कह सकते हैं। जिसमें समुद्र सामाजिक विसंगतियों का प्रतीक है। और जो समाज व मनुष्य है वह आज इन्हीं विसंगतियों के मध्य में खोया हुआ है। इन्हीं विसंगतियों को कमलेश्वर जी ने श्यामलाल विरन समीरा रम्मी तारा हरबंस इत्यादि के माध्यम से चित्रित करते हैं। श्यामलाल कहता है कि 'एक क्षण के लिए उन्हें लगा कि जैसे वह डूबते हुए जहाज में घिर गए हैं। चारों तरफ से ऊंची ऊंची लहरे पछाड़े खाती हुई बहती आ रही है और वह अब कुछ नहीं कर सकते। धीरे–धीरे सब कुछ इन लहरों में डूबता जाएगा और फिर एक झटके में यह जहाज अतल गहराइयों में समा जाएगा... और वह ऊब ऊबकर मर जाएंगे। चारों तरफ निपट सूनापन छा जाएगा और कुछ भी बाकी नहीं बचेगा।'[1]

एक परिवार कैसे सामाजिक विसंगतियों ,रुढियों व आर्थिक तंगी के कारण एक ऐसी दयनीय स्थिति को प्राप्त करता है कि उसकी जो भौतिक अवस्था है जो इस संसार में जिंदा तो है लेकिन जिसका कोई कहीं अस्तित्व नहीं है। जिसमें हर बात को लेकर हर वस्तु को लेकर हर विचार को लेकर पल–पल की लड़ाई व आपसी वैमनस्य की भावना बनी हुई है। एक घर एक परिवार और एक छत के नीचे रहते हुए भी एक दूसरे से अजनबी व अलग बने हुए हैं। यह जो एकाकीपन है या मनुष्य मनुष्य या घर घर के बीच जो सन्नाटा पसरा हुआ है जिसके कारण आज हम एक परिवार के मध्य भी अपने आपको अजनबी या अकेला महसूस कर रहे हैं। उपन्यास का एक प्रसंगिक दृश्य हैं 'जब से परिवार दिल्ली आया था, उसे सब लोग परछाई की तरह ही लगने लगे थे। जिनसे दिल की कोई बात न की जा सके, जिनके साथ सुख दुख और अकेलापन बांटाया न जा सके। उन्हें शिवा परछाई के और क्या समझा जाए।'[2]

यह महानगरी जीवन की एक बड़ी त्रासद पूर्ण स्थिति है। जिसमें मनुष्य जिंदा तो है पर उसका कोई अस्तित्व नहीं है। वह अपने आप को फालतू व बेकार की वस्तु के रूप में समझने लगा है। सारे संबंध औपचारिक पूर्ण लगने लगते हैं। और हर किसी का हर किसी पर से अधिकार हटने या कम होने लगता है। और दिल्ली जैसे महानगर में भी आदमी पर आदमी खड़ा हो फिर भी आदमी स्वयं को कितना अकेला महसूस कर रहा है यह श्यामलाल के बातों से स्पष्ट है 'इतने शोर और कोलाहल के बीच भी जैसे सब कुछ बहुत खामोश था। यहां तो खामोशी भरी हुई है– कमरों में, गली में, सड़कों और बाजारों में, आदमियों में! चीजों में!'[3]

क्षण प्रतिक्षण जिंदा रहने के लिए मनुष्य जो संघर्ष कर रहा है। उस संघर्ष ने मनुष्य के जीवन में एक नया आयाम दिया है। जिस आयाम मे हम पक्ष व विपक्ष दोनों को देख सकते हैं। उपन्यास में श्यामलाल को हम एक पक्ष व तारा व हरबंस के दूसरे पक्ष के रूप में देख सकते हैं, जिसे हम नयी व पुरानी पीढी का द्वन्द्व भी कह सकते हैं। जिसमें श्यामलाल अपनी परम्परा को महत्व देते हुए कहता है कि 'हमारी दादी ने तो पड़ोस के आदमियों की शक्ल तक नहीं देखी थी।... देहरी

के बाहर पैर नहीं रखा था।'[4] वहीं उनकी बेटी तारा बाहर के सारे कामकाज को संभालती है। और घर के बाहर के सारे कार्यों को अपने कंधों पर उठाते हुए हरवंश नामक व्यक्ति से अपनी मनपसंद की शादी भी करती है। जो कि श्यामलाल की परम्परा व सामाजिक दायरों से बाहर की बात थी। और श्यामलाल कहता है 'पता नहीं इन पिछले दो–तीन वर्षों में चीजें अपने आप कैसे बदलती गई थीं।.. आपस में कहीं कुछ धीरे से पिघल कर बह गया था, जिसे वह अब महसूस कर रहे थे।'[5]

हम मध्यवर्गीय चेतना की रुढियों की परंपरागत पीढ़ी भी कर सकते हैं। और उसके अंदर इतनी ज्यादा रुढ़िवादिता है कि वह सब कुछ सह लेगा पर रूढ़ियों को तोड़ना उसे बर्दाश्त नहीं होता है। उसे वह उसकी सामाजिक संपत्ति व पूंजी लगती है। पर जिंदगी की बेबसी कुछ भी नहीं। यह मध्यवर्गीय परिवार की बड़ी जड़ता है। कमलेश्वर इन मिथकीय चरित्रों पर प्रहार भी करते हैं और उन्हें तोड़ते भी हैं। क्योंकि वह एक रूढ़िवादी सामंतवादी या परिस्थितियों का दास बनी समाज या व्यक्ति का निर्माण नहीं करना चाहते बल्कि वे इन सबसे बाहर निकलकर एक गतिशील समाज निर्माण के पक्ष में हैं। दिल्ली जैसे महानगरों में जब व्यक्ति बहुत अधिक अकेला बेरोजगार और बेसहारा हो जाता है। तो वह अपने आप को इस भागती हुई दुनिया मे निरर्थक महसूस करने लगता है। इसी निरर्थकता बोध से व्याप्त श्यामलाल का व्यक्तित्व कह उठता है 'अब उनके वश में कुछ भी नहीं रह गया है। ना बाहर की दुनिया और ना ही भीतर की दुनिया। वह कोई फैसला नहीं ले सकते हैं।[6] इसी कड़ी में वह आगे कहते हैं कि 'वह सिर्फ एक फालतू चीज की तरह रह गए हैं, जिसे फेंका नहीं जा सकता, सिर्फ बर्दाश्त किया जा सकता है। जिसे सहेजा भी नहीं जा सकता सिर्फ होने को महसूस किया जा सकता है।[7]

इन सब उठापटक के बीच उनकी एकमात्र आशा का किरण वीरन बचता है। और वे सोचते हैं कि 'वीरन किसी लायक हो जाए तो यह बिखरता हुआ कंगाल साम्राज्य बचाया जा सकता है। यह डूबता हुआ जहाज उभारा जा सकता है।[8] समुद्र में खोया हुआ आदमी जोकि दिल्ली जैसे महानगर की कहानी है। आज मध्यवर्गीय परिवार शहरों की ओर अधिक उन्मुख है। एकांकी परिवार की ओर उन्मुख है। लेकिन यह नई शहरीकरण और एकल परिवार की व्यवस्था में जो विसंगतियां हैं। उन विसंगतियों को उपन्यास कार्य बखूबी चित्रित किया है जो कि आधुनिक भारत की एक मुख्य समस्या भी है।

शहरी जीवन मे पैसे का क्या महत्व हैं और इससे मिलने वाली इज्जत क्या है इस पर श्यामलाल कहता है कि 'यह शहर ऐसा है कि यहां बिना पैसे के यहां कोई पहचानता ही नहीं। पैसे पास है तो दुनिया अपनी है, नहीं तो कोई साला...।'[9] इसी बात को ध्यान में रखकर श्यामलाल रम्मी की शादी विकलांग किंतु पैसे वाले लड़के से करने की सोचते हुए कहता है कि 'दूसरा तो ठीक था। हो सकता है कि लंगड़े की शादी भी हो गई हो... ना भी हुई होगी तो क्या बिगड़ता है। जिसके पास पैसा है उसका कद नहीं देखा जाता। उन्हें किस बात की कमी।'[10]

शहरी औपचारिकता का बड़ा ही सुंदर व स्वाभाविक चित्रण वीरन के खो जाने पर किया है कि व्यक्ति को खाली यह जानने की उत्सुकता है कि क्या हुआ। 'पास–पड़ोस वाले घटना जानने के लिए आते और हरबंश से बात पता करके दुख प्रकट करके लौट जाते। गली से गुजरते आदमियों

की आंखों में भी घटना को जानने की उत्सुकता थी।... घर में भयंकर खामोशी छा गई थी। और घरों में जिंदगी उसी रफ्तार से जारी थी। खाना बनाने की महक और ऊपर कमरे से किसी के गुनगुनाने का स्वर आ रहा था।[11]

समुद्र में खोया हुआ आदमी उपन्यास स्वरूप की दृष्टि से भले ही लघु उपन्यास हो पर गहराई व विस्तार की दृष्टि से अत्यंत जीवंत व जीवन के विविध पहलुओं को खुद में समेटे हुए संघर्ष करते हुए आगे बढ़ते हुए जीवन की कथा है। जिसमें श्यामलाल जैसे व्यक्ति अपने आप को इन बदले हुए परिस्थितियों और हालातों में सब तरफ से वेवश वह लाचार पाता है। आज के इस कोरोना काल में भी उपन्यास की प्रासंगिकता व सार्थकता बनी हुई है क्योंकि शहरी जीवन में आज भी मध्यवर्गीय परिवार स्वयं को अकेला अजनबी बन व बैठे–बैठे निरर्थक का बोध का शिकार होता जा रहा है क्योंकि जब मनुष्य मनुष्य से किसी प्रकार का भय व खतरा नहीं था तब श्यामलाल जैसे की स्थिति इस प्रकार बिगड़ी हुई थी और आज जब मनुष्य मनुष्य से खतरा है कोई किसी के पास आना जाना नहीं चाहता है हर कोई हर किसी से दूरी बनाए हुए है तो श्यामलाल जैसे परिवार की स्थिति आज्ञा होगी यह अति संवेदनशील प्रश्न है।

संदर्भ–सूची :–

1. पृ.13, समुद्र में खोया हुआ आदमी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 2015।
2. पृ.6, वही।
3. पृ.6, वहीं।
4. पृ.24, वहीं।
5. पृ.29, वहीं।
6. पृ.13, वहीं।
7. पृ.14, वहीं।
8. प..14, वहीं।
9. पृ.54, वहीं।
10. पृ.54, वहीं।
11. पृ.60, वहीं।

৯★৫

निराला के काव्य में जनवादी-स्वर

सुमन सरोज*

छायावाद की चर्चा करते समय यदि साहित्यकारों व पाठकों का ध्यान अपनी ओर सर्वाधिक किसी ने आकर्षित किया है, तो वह क्रांतिकारी कवि सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' का व्यक्तित्व व कृतित्व है। जो अपने समय के सर्वाधिक विवादित कवि भी माने जाते हैं, जो स्वभाव से फक्कड़ व विचारों से क्रांतिकारी चेतना से युक्त अपने समय के साहित्यकारों समालोचको एवं संपादकों के छल–छदम को दिखाने वाले और जनपक्ष धरता की बात करने वाले छायावाद के शिखर पुरुष निराला हिंदी साहित्य में अपनी एक अलग पहचान रखते हैं। कहा जाता है कि– 'कवि सम्मेलनों की अध्यक्षता करते हुए प्रायः उत्तरीय, ओढ़े, दृढ़ मुद्रा में बैठे 'निराला' साक्षात कैलाश पर स्थित शंकर जैसे जान पड़ते थे। उनका गौर क्रांतिमय व्यक्तित्व को शिवत्व का स्वरूप सहज ही प्रदान किया करती थी।'[1] और जब वह किसी सभा में जाया करते थे तो 'उनकी उपस्थिति तब तब, तक एक आतंक का वातावरण बनाए रखती थी, जब तक कि वह स्वयं को ही विनोदपूर्ण फबती नहीं कसते थे, लेकिन उनके अत्यंत विनोदपूर्ण अवसर पर भी लोगों को संयत हास–परिहास करने का ही साहस होता था, क्योंकि ऐसा भय सदैव रहता था कि निराला को विनोद मुद्रा कहीं उग्र क्रोध में परिणित ना हो जाए।'[2]

जनवादी स्वर अर्थात जनसाधारण जनजीवन का स्वर यह अभिजनों द्वारा पीड़ित सामान्य मानव के जीवन का स्वर है। यह मनुष्य की वास्तविकता को दर्शाता है। यह हर एक व्यक्ति का स्वर है। इसका तात्पर्य उस वर्ग से है जो दुःखी, विवश, शोषित, पीड़ित, लाचार, भिक्षुक, श्रमजीवी, मजदूर, दलित, किसान, विधवा और निम्न वर्ग आदि लोगों के प्रति सहानुभूति, संवेदनाओ को वास्तविकता को प्रमुखता से चित्रित करता ही जनवादी काव्य कहा जाता है। 'अनेक विद्वान प्रगतिवादी काव्य को ही जनवादी काव्य मानते हैं। उनके मतानुसार प्रगतिवाद पाश्चात्य साहित्य की देन है। जो साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित है। यह सच है कि प्रगतिवाद मार्क्सवाद सिद्धांत पर आधारित है लेकिन यह भी सच है की प्रगतिवाद साहित्य संघ की स्थापना सन् 1936 में हुई थी, जबकि जनवादी रचनाएं छावाद के बीच सन् 1930 से ही पहले सन् 1920–21 में निराला जैसे कवियों में सामाजिक यथार्थ से पूर्ण विचारधारा मिलने लगी थी'[3] शिव कुमार मिश्रा लिखते हैं, 'जनवादी कविता जनता की जिन्दगी के बीच से उगते हुए उनकी आशाओं,आकांक्षाओं, उनके स्वप्नों तथा संघर्षों को वाणी देती है।'[4]

डॉ रामविलास शर्मा लिखते हैं– 'निराला को ऐसे लोगों से मिलने में ही आनंद आता था, वे हमेशा लोघ, पासी, धोबी, चमार जाति के लोगों से घिरे रहते थे। निराला स्वयं चातुरी चमार में लिखते हैं, 'मेरा मकान साधारण जनों का अड्डा बल्कि house of Commons हो गये।'[5]

'निराला' के काव्यों में जनवादी स्वर देखने को मिलता है। उनके काव्य में यथार्थवादी दृष्टिकोण ही अधिक है। कल्पना का सहारा उन्होंने कम लिया। परंतु उनके काव्य में एक ऐसा आटूट टृटता भर दी है कि जो उन्हें सहज ही प्रतिभा का प्रतिनिधित्व देने में समर्थ है।

*** शोधार्थी, महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बडौदा, गुजरात।**

गुरु हथौड़ा हाथ
करती बार—बार प्रहार
सामने तरु मालिका अट्टालिका, प्रकार।
चढ़ रही थी धूप
गर्मियों के दिन
दिवा का तमतमाता रूप।
उठी झुलसती हुई लू
रुई ज्यों, जलती हुई भू
गर्द चिनगी छा गयी,
प्रायः हुई दोपहर,
वह तोड़ती पत्थर।

काव्य में एक और कठिन तम परिस्थितियों में काम करते श्रमिक वर्ग का चित्र दिखाया है और दूसरी ओर सुख संपन्न भवनो, अट्टालिका में रहने वाले लोगों की स्थिति। एक श्रमिक स्त्री के हाथों में हथोड़ है भुजाओं में शक्ति भी है सतत प्रहार की क्षमता भी है फिर भी वह अपने दुर्भाग्यपूर्ण जीवन की प्राचीर तोड़ने में अक्षम है क्योंकि व्यवस्था पूंजीवादी है। फिर भी वह कड़ी धूप में प्रहार करती है, बार—बार अपनी परिस्थितियों से भागती नही न ही हारती है, सामना करती है ढट के।
वह आता

दो टूक कलेजे के करता पछताता
पथ पर आता।
पेट —पीठ दोनों मिलकर है एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी —भर दाने को —भूख मिटाने को
मुँह की फटी पुरानी झोली को फैलातां

भिक्षुक को भूख ने इस तरह से व्याकुल किया है, कि अपने अधरों से मांग भी नहीं पता बस दांतों से इशारा करता है भगवान इतना क्रूर और निर्दई कैसे हो सकता है उसे दाने—दाने को मोहताज कर देता है उसे अपने ही आंसू पीकर अपने मन को मारना पड़ता है ऐसी विकृत परिस्थितियां हमारे हृदय को अंदर तक झकझोर देती है। पूंजीपतियों की शोषक वृति से शोषित जन की दुर्दशा से कवि का आक्रोश कुछ इस प्रकार उमड़ पड़ता है।

अबे सुन बे गुलाब
भूल मत जो पाई खुशबू रड़ो आब,
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट ,
ढाल पर इतराता है केपीलिस्ट !
कितनों को तूने बनाया है गुलाम ,
माली कर रख्खा,सहाया जाड़ा —धाम।

गुलाब पूंजीपति वर्ग व सर्वहारा का प्रतीक है जिसे कैपलिस्ट कहकर कवि अपने आक्रोष गुस्से को प्रकट करता है। जिसमें कवि ने पूंजीवादी सभ्यता पर कुकुरमुत्ता के बहाने करारा व्यंग किया गया है। निराला हिंदी साहित्य के बहुमुखी प्रतिभा संपन्न एवं सशक्त कवि कहे जाते हैं उनके जैसे विलक्षण काव्य प्रतिभा बहुत कम कवियों में देखने को मिलती है। जिनका अनुभूति और अभिव्यक्ति का रूप निराला है। कवि की सामाजिक दृष्टि चिंतन एवं अनुभव वैविध्य को बल देती है उनके बारे में धनंजय वर्मा लिखते हैं कि– 'समाज के पीड़ित और शोषित वर्गों के प्रति निराला की भावनात्मक सहानुभूति सदैव रही है क्रियात्मक सहानुभूति का प्रकाशन उनके जीवन के अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं से होता है।'[6]

निराला के काव्य में उनके उच्च संघर्षों के कारण, उच्च चिंतन स्वाधीनता का भाव उनके काव्य में देखने को मिलता है। ऐसे अनुभवी महान प्रतिभा का प्रतिनिधित्व देने में सक्षम है।

संदर्भ–सूची :–

1. निराला की तीनलंबी कविता, डॉ.गया प्रसाद गुप्ता ,जय भारती प्रकाशन, संस्करण २०१५ ,पृ.६
2. वही य पृ.६
3. निराला के काव्य का समीक्षात्मक अध्ययन , मेजर डॉ.नारायण राउत, विद्या प्रकाशन,प्रथम संस्करण , पृ.२४२
4. वही य पृ.२४१
5. वही य पृ.२५७
6. वही य पृ.२५७

विकास यशकीर्ति का कृतित्त्व-व्यक्तित्त्व : एक अवलोकन

डॉ. मनजीत*

'व्यक्तित्व' के लिए अंग्रेजी में 'Personality' शब्द बना है, जिसका अर्थ है 'मुखौटा' यह अर्थ प्राचीन रोमन नाटकों से जुड़ा हुआ है। प्रसिद्ध विद्वान 'सिसरो' के लेखों में इस शब्द का इस्तेमाल व्यक्ति स्वयं कैसा है, की अपेक्षा वह दूसरों को कैसा दिखता है, के अर्थ में हुआ है। यद्यपि 'व्यक्तित्व' शब्द देखने में जितना छोटा है अपने अंदर उतनी ही व्यापकता समेटे हुए है फिर भी कुछ विद्वानों ने इसे परिभाषा में बाँधने की कोशिश की है। यथा डॉ. शिव प्रसाद सिंह के अनुसार, "व्यक्ति का समस्त स्वरूप ही उसका व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व नाना प्रकार की विशेषताओं का वह सजीव पुंज है, जो एक व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों से अलग करता है।"[1] डॉ. हरदेव बाहरी ने 'व्यक्तित्व' शब्द को परिभाषित करते हुए कहा है कि, "व्यक्तित्व का अर्थ है, व्यक्ति की विशेषता या गुण, विशेष गुण असामान्य विशेषता।"[2] इसी प्रकार मनोविज्ञान ने भी व्यक्ति की बाह्य सौन्दर्य विशेषताओं एवं आंतरिक गुणों यथा– सत्य, दया, करुणा, द्वेष, ईर्ष्या आदि के सम्मिलित व्यवहार को व्यक्तित्व के अर्थ में स्वीकार किया है।

अतः कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व व्यक्ति की शक्ल–सूरत एवं वेशभूषा से लेकर उसके आंतरिक गुणों यथा संवेदनशीलता आदि को व्यक्त करने का नाम है। अतः इस आधार पर हम किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व का आकलन करने के लिए दो भागों में विभाजित कर सकते हैं–

1. बाह्य व्यक्तित्व 2. आंतरिक व्यक्तित्व

बाह्य व्यक्तित्व :– व्यक्तित्व के अंतर्गत व्यक्ति की शारीरिक बनावट, कद–काठी, रंग–रूप, आयु, वेश–भूषा आवाज इत्यादि विशेषताएँ आती है। अर्थात् व्यक्ति विशेष का भौतिक परिचय अर्थात् जो दूसरो को प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा हो, वही उसका बाह्य व्यक्तित्व होता है।

आन्तरिक व्यक्तित्व :– आंतरिक व्यक्तित्व के अंतर्गत किसी व्यक्ति विशेष के आंतरिक गुणों यथा– सामजिक रिश्तों के प्रति उसकी संवेदनशीलता, सत्यता, विनम्रता, उदारता, परोपकार की भावना आदि जैसे तत्व जो उसके व्यवहार के द्वारा व्यक्त होते हैं। आंतिरक व्यक्तित्व की श्रेणी में आते हैं। इस तरह व्यक्तित्व के बाहय एवं आंतरिक दोनों गुणों को मिलाकर ही व्यक्तित्व का मूल्यांकन किया जाता है। अतः कहना गलत न होगा कि किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण में आंतरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार के गुणों का बराबर महत्व होता है। अतः कवि विकास 'यशकीर्ति' के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विवेचन– विश्लेषण उनके बाह्य एवं आंतरिक गुणों के प्रकाश में इस प्रकार कर सकते हैं–

बाह्य व्यक्तित्व– श्री विकास यशकीर्ति जी सामान्य कद–काठी के एक युवा कवि हैं। इनका रंग कद–काठी की भांति ही सामान्य है, न अधिक गौर वर्ण और न सांवला। चेहरे पर एक अद्भुत तेज दमकता रहता है। भरा हुआ शरीर, गोल चेहरा और आँखों से झलकती सादगी एवं चिंतन की गहराई विकास यशकीर्ति जी को आकर्षक व्यक्तित्व प्रदान करती हैं। समय, परिस्थिति एवं माहौल को

***प्राध्यापिका, हिन्दी, वैश्य आर्य कन्या महाविद्यालय, बहादुरगढ़–हरियाणा।**

देखकर वेशभूषा को धारण करना इनकी विशेषता है। अपने कार्यस्थल पर अक्सर सर्दियों में कोट–पेंट अथवा जैकेट–जींस में ही दिखाई देते हैं वहीं काव्य गोष्ठियों में चूड़ीदार पायजामी, कुर्ता व गले में गमछा इनके व्यक्तित्व को चार चाँद लगा देते हैं। परिधान के मामले में रंगों का चुनाव गजब का है। इनकी वेश–भूषा, खान–पान एवं रहन–सहन पूर्णतः शालीन एवं सौम्य है। विकास यशकीर्ति जी अपनी मधुर वाणी एवं विनम्र स्वभाव के बलबूते पर सहज ही अनजान लोगों को भी अपना बना लेने की क्षमता रखते हैं। इनकी संतुलित चाल एवं मंद–मंद मुस्कान से इनकी शालीनता नहीं बल्कि महानता भी झलकती है। कार्यस्थल पर ये अपनी अधीनस्थ कर्मचारियों से कुशल–क्षेम पूछना कभी नहीं भूलते। उनकी व्यक्तिगत समस्याओं का हल भी चुटकी में निकालना इनकी खासियत है। अनजान लोगों अथवा कार्यस्थल पर जहाँ इनके चेहरे पर गम्भीरता का भाव होता है मगर परिजनों मित्र मण्डली के बीच बैठकर जब ठहाके लगाते है तो गम्भीरता का आवरण सिगरेट के धुंए सा कहीं विलीन हो जाता है। इस प्रकार विकास जी का सादगीपूर्ण आकर्षक व्यक्तित्व बरबस ही अनजान लोगों को भी अपनी ओर आकृष्ट करने में सक्षम हैं।

आंतरिक व्यक्तित्व :– किसी भी व्यक्ति के आंतरिक व्यक्तित्व निर्माण को उसकी पारिवारिक परिस्थितियों, माता–पिता द्वारा दिए गए संस्कारों, मित्र मण्डली एवं उसके द्वारा पढ़े गए साहित्य आदि तथ्य प्रभावित करते हैं। कवि विकास यशकीर्ति जी का बचपन संयुक्त परिवार में बीता। इनके दादा जी बड़े धर्मिक विचारों के व्यक्ति थे तथा दादा के छोटे भाई श्री सम्प्रदाय में दीक्षित थे। माँ रतनी देवी जी एक सभ्य–सुघड़, सहनशील एवं विनम्र स्वभाव की महिला हैं। अतः परिवार के ऐसे माहौल में बालक विकास के आंतरिक व्यक्तित्व का निर्माण हुआ। आप स्वभाव से विनम्र, चिन्तन मनन करने वाले करुण हृदय के व्यक्ति हैं। बुद्धि–वैभव, कला–कौशल एवं यश से सम्पन्न होने पर भी घमण्ड इनको लेशमात्र भी छू नहीं पाया है। इनकी सादगी, विनम्रता एवं दूसरों के कष्ट निवारण की प्रवृति से जुड़ा एक घटना यहाँ उद्धरणीय है।[3] बात महर्षि दयानंद यूनिवर्सिटी के गेट न. 1 की है। विकास जी यूनिवर्सिटी के सामने चाय के खोखे पर बैठकर चाय पी रहे थे कि एक महिला अपनी लड़की को धमकाती हुई वहाँ आई। वो उसे फॉर्म व फोटो सत्यापित न करवाकर लाने के कारण डांट रही थी। विकास को जब कारण पता लगा तो उन्होंने कहा कि ताई जी, लाओ, मैं सत्यापित कर देता हूँ। विकास जी की इस बात पर उनको यकीन नहीं हुआ और उन्हें लगा कि यह व्यक्ति उनका मजाक उड़ा रहा है। तब उन्होंने अपनी गाड़ी में रखी स्टेम्प निकाली और फॉर्म व फोटो सत्यापित कर दिए तो वह महिला उनको आशीष देते हुए वहां से चली गई। अतः ऐसे उदार हृदय के स्वामी है विकास यशकीर्ति जी। इनके स्वभाव की इसी विशेषता के सन्दर्भ में डॉ. नरेंद्र जी का यह कथन उद्धरणीय है कि, "विकास यशकीर्ति जी स्वयं कष्ट उठाकर भी दूसरों के कष्टों का निवारण करने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। वे एक अच्छे मित्र होने के साथ–साथ अत्यंत संवेदनशील व्यक्तित्व के धनी हैं ये स्वभाव से परोपकारी एवं कल्याणकारी प्रवृति के हैं।"[4] वे जाति–धर्म एवं सम्प्रदाय से परे मानव प्रेम के संदेश वाहक है इस संदर्भ में इनके काव्य की ये पंक्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है–

"आओ,
आज गुलाल लगाएं
हम सब भाईचारे का मुहं काला मिलकर करते हैं

जातिवाद के नारे का।
धो डालें मन के मैले को उज्जवल नेक इरादों से।
फिर से हम मजबूर करें अब देश को सच्चे वादों से।"[5]

कवि यशकीर्ति के ह्दय में जहाँ अपने देश, समाज, साहित्य एवं संस्कृति के प्रति अथाह प्रेम है वहीं नारी जाति के प्रति सम्मान की भावना भी कूट–कूट कर भरी हुई है। उनके अनुसार औरत भोग्या नहीं बल्कि पूजनीया है वे औरत की पीड़ा को व्यक्त करते हुए कहते है–

"युगों युगों से देखा है, मुझको ही कोसा जाता है
बेशक कितने अवतार हुए, मेरा तन–मन नोंचा जाता है
कभी गर्त में समा दिया, कभी तन पर मेरे चीर नहीं।
औरत हूँ मैं सड़कों पर बिकने वाली तस्वीर नहीं।"[6]

इस प्रकार कवि यशकीर्ति जी का आंतरिक व्यक्तित्व संवेदना से लबालब भरा हुआ है जो इनके चरित्र को औदात्य प्रदान करता है। इनके व्यक्तित्व के कुछ मुख्य बिन्दुओं को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है–

संवेदनशीलता :– यशकीर्ति जी संवेदनशील व्यक्तित्व के धनी हैं। इनका हृदय प्राणी मात्र के दुःख–दर्द को देखकर द्रवित हो उठता है और यही पीड़ा शब्दों से रूपाकार ग्रहण कर रचना के रूप में अवतरित होती है। इनकी सभी इनकी गहन अनुभूति व संवेदना से ओत–प्रोत है। अतः इस सन्दर्भ में यह कहना गलत न होगा कि इनकी कविताएँ भावों की अतल गहराई लिए संवेदना का अप्रतिम रूप प्रकट करती है जो सह्रदय पाठक अथवा श्रोता का साधारणीकरण कर उसे काव्यरसास्वादन के सागर में डूब जाने पर मजबूर कर देती हैं।

पौराणिक पात्र :– इनकी रचनाओं में व्यक्तिनिष्ठ पीड़ा समष्टिगत रूप धारण करती जान पड़ती है। यह इनकी संवेदनशीलता का ही कमाल है कि रामायण की अति महत्वपूर्ण मगर साहित्य में विस्मृत पात्र उर्मिला के आत्मिक दुःख को सुंदर शब्दों में पिरोकर इन्होंने सजीवता एवं मार्मिकता प्रदान की है, यथा–

"रीत कुल की याद तुमको, धर्म अपना याद है।
कैसी जीवन संगिनी ! जीवन मेरा बर्बाद है
छल कपट के जाल में जीवन मेरा भी फंस गया
तीर विरह का मेरे साइन में आकर धंस गया
बिन तुम्हारे मैं रहूंगी, ज्यों रहूँ करावास में
हे लखन ! तुम छोड़ मुझको चल दिए वनवास में।'[7]

विकास जी एक सामाजिक व्यक्ति है और समाज में होने वाले दंगों, लड़कियों पर होने वाले एसिड अटैक की घटनाओं, कन्या भ्रूण हत्या, ऑनर किलिंग जैसे जघन्य अपराधों आदि से उनका मन आहत होता है और उनकी यही आहत जब शब्दों का आवरण पहनकर रचना के रूप में प्रस्तुत होती है तो श्रोताओं व पाठकों को वाह–वाह करने पर मजबूर कर देती है।

संघर्षशीलता :– विकास यशकीर्ति जी ने अपने जीवन में अनेक कठिनाइयों एवं विपरीत परिस्थितियों का सामना किया है। जीवनगत अभावों एवं अवरोधों ने उनके जीवन को संघर्षशील बना दिया। उनके जीवन की यह संघर्षशीलता उनकी काव्य रचनाओं में जीवंत रूप में उभर कर सामने आई है, यथा–

बदनसीबी का मैं देखो, फिर निशाना हो गया
तू भी मेरा न हुआ दुश्मन जमाना हो गया
हादसों पर हादसे और तल्खियों की जिन्दगी
लग रहा है गम से भी रिश्ता पुराना हो गया।'[8]

मगर इस संघर्षशील जीवन में ये टूटे नहीं बल्कि एक आशावादी दृष्टिकोण के साथ निरंतर आगे बढ़ते रहे है यथा–

संकल्प नये फिर से उभरे हैं/चेहरे पर चिंतन बिखरे हैं
आशाओं का आंचल थामे/राह नई पर फिर निकले हैं।[9]

दृढ़ संकल्प एवं प्रबल इच्छाशक्ति के धनी– विकास जी दृढ़संकल्पशील प्रवृति के धनी हए। इनके परिवार क साहित्य से दूर–दूर क नाता नहीं है और इस वजह से अनेक बार इन्हें अपने स्वजनों का रोष भी सहना पड़ा। दूसरी बात हिंदी साहित्य जगत में एक से बढ़कर एक नामी कवि है जिनकी पीढ़ी दर पीढ़ी काव्य को एक व्यवसाय के रूप में आगे बढ़ा रही है ऐसे में एक छोटे से शहर से उठे नव कवि के लिए अपनी पहचान बनाना इतना आसान नहीं था। मगर इन्होंने अपनी दृढ़ संकल्प एवं प्रबल इच्छाशक्ति के बल पर इतने कम समय में हिंदी के जाने माने कवियों में अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाने में सफलता पाई है। एक प्रशासनिक अधिकारी होने के नाते उनके ऊपर अनेक विभागीय जिम्मेदारियाँ है एवं समय का अभाव रहता है मगर लेखन की वजह से उनके प्रशासनिक कार्य कभी बाधित नहीं होते। सन् 2016 में हुए आरक्षण दंगों में सरकार द्वारा गठित मुआवजा कमेटी में उन्हें कमेटी प्रभारी के रूप में नियुक्त किया गया था। रोहतक शहर व आसपास के इलाकों में इन दंगों के कारण आगजनी से हुए नुकसान का सही–सही आकलन करके शीघ्रातिशीघ्र रिपोर्ट सौंपना इतना आसान काम नहीं था मगर विकास यशकीर्ति जी ने दिन–रात एक करके न केवल निश्चित समय से पहले काम पूरा करके दिखाया बल्कि उचित आकलन करके पीड़ित लोगों को के साथ न्याय भी किया। उनके इस कार्य की प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा भूरि–भूरि प्रशंसा की गई तथा 15 अगस्त 2016 व 26 जनवरी 2017 को उन्हें जिला प्रशासन रोहतक की तरफ से प्रशस्ति पत्र देकर सम्मानित किया गया। इनका विशवास है कि दृढ़ संकल्प एवं आत्मविश्वास के आगे सभी बाधाएँ नतमस्तक हो जाती हैं और हिम्मत से व्यक्ति यदि आशावादी दृष्टिकोण के साथ प्रयास करे तो वह अपने लक्ष्य को अवश्य हासिल करता है, यथा–

"बाधाओं के पार खड़ी है मंजिल फिर भी दूर नहीं।
किसी सहारे को मत ढूंढ़ो, इतने भी मजबूर नहीं।।
हिम्मत की बैसाखी अक्सर चलना हमें सिखाती है।
आशाओं के उजियारे में मंजिल पास बुलाती है।।[10]

सहजता :– सहजता एवं सादगी विकास जी के व्यक्तित्व का प्रमुख गुण है। सादगीपूर्ण जीवन एवं सरल स्वभाव के कारण ही विकास जी जहाँ भी जाते हैं लोगों को अपना मुरीद बना लेते है। ये स्पष्टवादिता एवं सत्यता को जीवन में बड़ा महत्व देते है। वे दूसरों की भलाई करने के लिए सदैव तत्पर रहते है। उनके व्यक्तित्व की यह विशेषता उनकी रचनाओं में भी प्रकार हुई है, यथा–

'एक भलाई की कवायद तुम भी कर के देख लो
मुस्कराहट उसकी बन जाओ जो हँस पता नहीं।'[11]

राष्ट्र प्रेम– इनके हृदय में अपने राष्ट्र के प्रति अगाध शृद्धा एवं देश प्रेम की भावना इनकी कविताओं में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। वे भारत देश की रक्षा के लिए भारतवासियों का आह्वान करते हुए कहते हैं कि हमें जाति, धर्म व समप्रदाय की भावना से ऊपर उठकर देश हित में काम करना चाहिए। शहीदों के प्रति आदर–सम्मान की भावना देश के जवानों का सबसे उच्च स्थान है। इनके बलिदान एवं त्याग के कारण ही सारा देश चैन की नींद सोता है। विकास यशकीर्ति सरीखा सहृदय कवि भला शहीदों के इस अमर बलिदान को अनदेखा कैसे कर सकता है। इनके हृदय में केवल शहीदों के प्रति शृद्धा का भाव ही नहीं है बल्कि ये शहीदों के परिजनों के प्रति भी उतनी ही श्रधा रखते हैं। शहीदों के प्रत्ति उनका यह प्रेम उनकी रचनाओं में व्यक्त हुआ है यथा–

"हे राष्ट्र के शहीदो। तुमको मेरा नमन है
कुर्बानियों के दम से, खुशहाल ये चमन है
भूला नहीं है कोई अब तक तेरी कहानी
माँ भारती की खातिर कुबान की जावनी
फांसी को चूमकर यूँ ऐसे गले लगाया
जैसे कोई विजेता रण जीत के है आया।"[12]

आत्मोत्सर्गता– यशकीर्ति जी में आत्मोत्सर्गता की भावना कूट–कूट कर भरी हुई है। वह दूसरों की भलाई के लिए अपना सर्वस्व उत्सर्ग करने से भी नहीं हिचकिचाते। उनकी आत्मोत्सर्गता की भावना उनके द्वारा रचित कविता 'हाँ, मुझको प्यार है' में उनकी आत्मोत्सर्गता की भावना के ही दर्शन होते है जहाँ कवि अपने परिवार की खुशियों के लिए अपने सच्चे प्यार को भी ठुकरा देता है, यथा–

"दुखों के इस भंवर में मैं ही बस उनका सहारा हूँ।
नदी में डूबती नैया का एक टूटा किनारा हूँ।
मैं गम के इस सफर में यूँ किनारा कर नहीं सकता
हाँ, जानम प्यार में तेरे कभी भी मर नहीं सकता।[13]

मानवतावादी दृष्टिकोण– विकास यशकीर्ति जी जाति, धर्म, वर्ग सम्प्रदाय के संकीर्ण दायरे में विशवास नहीं करते। उनका मानना है कि जाति–धर्म व वर्ग की दीवारें देश की अखंडता के लिए बहुत बड़ा खतरा हैं। इनके लिए सभी जाति व धर्मों के ओग समान हैं। जातीय हिंसा फैलाने वाले लोगों के प्रति इनकी रचनाओं में आक्रोश दिखाई पड़ता है, यथा– मानवता को रौंद दिया कुछ दहशत गर्द हैवानों ने।[14]

सम्प्रदाय, जातिवाद व धार्मिक उन्माद के कारण देश में गृहयुद्ध की स्थिति बनी हुई है। ऐसे में यशकीर्ति जैसे मानवतावादी विचारधारा के पक्षधर कवि ही दिग्भ्रमित जनता का सही मार्ग दर्शन कर सकते हैं। इन्होंने 'होली आई' रचना में लोगों का आह्वान करते हुए कहा है, कि–

आओ, आज गुलाल लगायें हम सब भाई चारे का।
मुहं काला मिलकर करते हैं जातिवाद के नारे का।
धो डालें मन के मैले को, उज्जवल नेक इरादों से।
फिर से हम मजबूत करे, देश को सच्चे वादों से।[15]

प्रेमी हृदय करुणा के सागर– विकास यशकीर्ति का हृदय प्राणी मात्र के लिए प्रेम करुणा से लबालब भरा है। इनके प्रेम में औदात्य की भावना है उच्छृंखलता का अभाव है। अपने प्रेम को पाने

के लिए कवि प्रयास तो करता है मगर प्रियसी को विवश करता दिखाई नहीं पड़ता बल्कि वह प्रियसी के मान सम्मान के प्रति चिंता व्यक्त करते हुए कहता है–

"कोई पूछ ले मेरे बारे में, कह देना कोई खास नहीं।
जितना नजदीक मैं दिखता हूँ उतना दिल के पास नहीं।
मुझे देख कभी भी महफिल में, संयम तुम बिल्कुल ना खोना।
चाहे दिल में कितना दर्द उठे, पर आँखों से तुम न रोना।"[16]

'दर्द क दावानल' अपने आगोश में विभिन्न ज्वलंत मुद्दों को समेटे हुए है। इस संग्रह में गीत, गजल, मुक्त छंद कविताएँ एवं मुक्तकों को स्थान दिया गया है। उक्त काव्य संग्रह में संकलित रचनाएँ अपने कथ्य से तो पाठकों को प्रभावित करती ही हैं साथ ही साथ कवि के द्वारा बिल्कुल नए एवं अत्याधुनिक उपमान, प्रतीक एवं बिम्बों से पाठकों को चौंकाती भी हैं। नवीन प्रतीक का यह उद्धरण द्रष्टव्य है–

"तेरे मेरे प्यार का रिश्ता जैसे धरती अम्बर का
इस दिल में है तेरा दर्जा जैसे पीर पैगम्बर का
पर तुम बिन मेरा जीवन कुछ–कुछ अब ऐसा ही है
जैसे दीवारों पर लटका अंतिम पेज दिसम्बर का।"[17]

संदर्भ –

1. डॉ. शिव प्रसाद सिंह, विद्यापति, पृष्ठ संख्या 32।
2. सम्पादक डॉ हरदेव बाहरी, शिक्षार्थी हिन्दी शब्द कोश पृष्ठ संख्या 76।
3. विकास यशकीर्ति, दर्द का दावानल, पृष्ठ संख्या 84।
4. विकास यशकीर्ति, गीतों से संवाद, पृष्ठ संख्या 32।
5. विकास यशकीर्ति, गीतों से संवाद, पृष्ठ संख्या 54।
6. विकास यशकीर्ति, गीतों से संवाद पृष्ठ संख्या 64।
7. विकास यशकीर्ति, गीतों से संवाद, पृष्ठ संख्या 41।
8. विकास यशकीर्ति, गीतों से संवाद पृष्ठ संख्या 40।
9. विकास यशकीर्ति, गीतों से संवाद, पृष्ठ संख्या 66।
10. विकास यशकीर्ति, गीतों से संवाद, पृष्ठ संख्या 38।
11. विकास यशकीर्ति, गीतों से संवाद पृष्ठ संख्या 40।
12. विकास यशकीर्ति, गीतों से संवाद, पृष्ठ संख्या 43।
13. विकास यशकीर्ति, दर्द का दावानल, पृष्ठ संख्या 81।
14. विकास यशकीर्ति, दर्द का दावानल, पृष्ठ संख्या 80।
15. विकास यशकीर्ति, दर्द का दावानल, पृष्ठ संख्या 84।
16. विकास यशकीर्ति, गीतों से संवाद, पृष्ठ संख्या 51।
17. विकास यशकीर्ति, दर्द का दावानल, पृष्ठ संख्या 104।

शिवाजी के राज्य की शासन-प्रणाली

सुमन यादव*

मराठों का उदय मध्यकालीन भारतीय इतिहास की एक अत्याधिक महत्वपूर्ण घटना है क्योंकि उनके बढते हुए प्रभाव ने मुगल साम्राज्य को जहाँ एक ओर विनाश की ओर ठकेला, वहाँ एक लम्बे समय तक उन्होंने भारत में अपने प्रभुत्व का डंका भी बजाया। 18वीं शताब्दी में पेशवाओं और उनके सहायक सरदारों का लगभग संपूर्ण भारत पर राजनीतिक, प्रभुत्व छाया रहा और मुगल सम्राटो को वे अपने हाथ का खिलौना बनाये थे। मराठों के देश महाराष्ट्र में 15वीं शताब्दी से लेकर 17वीं शताब्दी तक जो सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन चलें उन्होंने मराठों में जागृति उत्पन्न कर दी। यह जागृति धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र के साथ ही राजनीतिक क्षेत्र में भी प्रकट हुई। स्वामी रामदास ने अपने योग्य शिष्य शिवाजी को राजस्व की स्थापना के लिए प्रोत्साहित किया। सन्तों ने अपनी धार्मिक औ वीर माता जीवा बाई तक दादा जी कोणु देव के प्रभाव से शिवाजी के महान चरित्र का गठन हुआ। उन्होने मराठों को संगठित किया और उन्हें एक जबरदस्त राजनीतिक तथा सैनिक शक्ति में बदल दिया। वास्तव में 17वीं शताब्दी में वीर शिवाजी के नेतृत्व में मराठों का उदय भारत के इतिहास में एक महान धटना थी।[1]

शिवाजी ने भू–राजस्व एवं प्रशासन के क्षेत्र में अनेक कदम उठाए, राजस्व व्यवस्था के मामले में अन्य शासकों की तुलना में शिवाजी ने एक आदर्श व्यवस्था बनाई शिवाजी ने राजस्व व्यवस्था को लेकर एक सही मानक इकाई बनाया था जिसके अनुसार रस्सी के माप के स्थान पर काठी और मानक घड़ी का प्रयोग आरंभ करवाया, यह व्यवस्था काफी सुगम थी जबकि बीजापुर के सुल्तान, मुगल और यहाँ तक कि स्वयं मराठा सरदार भी अतिरिक्त उत्पादन को एक साथ ही लेते थे जो इजारेदारी या राजस्व कृषि की कुख्यात प्रथा जैसी ही थी।

शिवाजी ने अपने प्रशासनिक सुधान में भू–राजस्व विभाग से बिचौलियों का अस्तित्व समाप्त कर दिया था कृषकों को नियमित रूप से बीज और पशु खरीदने के लिए ऋण दिया जाता था जिसे दो चार वार्षिक किश्तों में वसूल किया जाता था अकाल या फसल खराब होने की आपात स्थिति में उदारतापूर्वक अनुदान सहायता प्रदान की जाती थी नए क्षेत्र बसाने को प्रोत्साहन देने के लिए किसानों को लगान मुक्त भूमि प्रदान की जाती थी।[2]

शिवाजी के शासन के समय जमींदारी प्रथा अपने चरम पर थी इस प्रथा ने भारत के किसान को गरीबी की ओर ठकेल दिया परन्तु अनेक द्वारा भूमि एवं उपज के सर्वेक्षण और भूस्वामी बिचौलियों की स्वतंत्र गतिविधियों पर नियंत्रण लगाए जाने से ऐसी संभावना के संकेत प्राप्त होते है कि उन्होंने जमीदारी प्रथा को समाप्त करने के लिए कुछ काम किए थे।

वैसे शिवाजी के शासन काल में भू–राजस्व के अलावा राज्य की आय के दो और स्त्रोत थे सरदेशमुखी और चौथ यह एक तरह का सैनिक कर था जिसे अनाज के रूप में वसूला जाता था

*** शोधार्थी, इतिहास विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.)।**

सरदेशमुखी लोगों के हितों की रक्षा करने के बदले वसूला जाता था जबकि चौथ वाहत शक्ति के आक्रमण से सुरक्षा प्रदान करने के बदले लिया जाने वाला कर था।[3]

राजस्व संग्रह तथा शासन के लिए शिवाजी का राज्य कई प्रान्तों में बँटा था। प्रत्येक प्रान्त परगनों तथा तर्फों में विभक्त था। गाँव सबसे छोटी इकाई था। शिवाजी ने भू–राजस्व को ठेके पर देने की उस समय की प्रथा को छोड़ दिया। इसके बदले उसने सरकारी अफसरों द्वारा सीधे रैयतों से कर वसूलने प्रथा चलायी। इसके अनुसार सरकारी अफसरों का राजनैतिक अधिपति की शक्तियों के काम में लाने अथवा रैयतों को क्लेश देने का अधिकार नहीं था। भूमि की सावधानी से जाँच कर कर का निर्धारण होता था। संभावित उपज का 30 प्रतिशत राज्य लेता था। कुछ समय के पश्चात अन्य प्रकार के करों या चुगियों के उठा देने के पश्चात शिवाजी ने इसे बढ़ाकर 40 प्रतिशत कर दिया। कृषक निश्चित रूप से जानते थे कि उन्हें कितना कर देना है तथा इसे वे बिन किसी जुल्म के अदा कर सकते है उन्हें नगद अथवा अनाज किसी रूप में अदा करने की स्वतंत्रता थी। राज्य रैयतों की बीज तथा मवेशी खरीदने के लिए खजाने से अग्रिम ऋण देकर श्वेती को प्रोत्याहन देता था। रैयते इन्हें आसान वार्षिक किश्तों में चुका देती थी। फ्रायर के अनुसार कि राज्य के अधिकारी से अपने राज्य को पुष्ट बनाने के अभिप्राय से शिवाजी राजस्व संग्रह के मामले में कठोर रहा। आनुधिक अनुसंधानों ने यह पूर्णतः सिद्ध कर दिया है कि राजस्व शासन मानवतापूर्ण, कार्यक्षम तथा उसकी प्रजा के लिए हितकर था।[4] शिवाजी के समासद कृष्णाजी अनन्त ने सन् 1694 ई. में लिखा था कि उनके मालिक के राजस्व का परिणाम प्रतिवर्ष एक करोड़ होंण और चौथ अस्सी लाख होंण तक थी। होंण सोने की बहुत छोटी मुद्रा होती थी। उसका दाम पहले चार रूपये के बराबर था और बाद में पाँच रूपये के बराबर हो गया था। इस प्रकार इन दोनों मदों से शिवाजी की आय प्रतिवर्ष सात से लेकर नौ करोड़ रूपयों तक की होती थी; परन्तु वास्तव में वसूल बहुत कम होता था और वह भी प्रतिवर्ष समान रूप से प्राप्त नहीं होता था।[5]

चौथ और सरदेश मुखी कुल राजस्व का 10 प्रतिशत वसूल किया जाता था। इसकी वसूली पर केवल शिवाजी और उसके वंशजों का ही अधिकार होता था क्योंकि शिवाजी स्वयं को महाराष्ट्र का वंशानुगत सरदेश मुख मानता था और देशमुखी उसका 'वतन' समझा जाता था, किन्तु विपरीत सरदेशमुखी वैध कल्पना पर आधारित था तथा यह मराठा स्वराज्य एवं दक्षिण के छः मुगल सूबों से वसूल किया जाता था। भारत में चौथ की परम्परा का प्रारम्भ शिवाजी ने किया था परन्तु गोआ के प्रोफेसर पिस्सर लैंकर तथा डॉ. सेन ने 1579, 1604, 1917, 1613 ई. के विभिन्न पुर्तगाली अभिलेखों के अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध कर दिया कि यह परम्परा शिवाजी के काल से बहुत पूर्व उत्तरी कोंकण में विद्यमान थी। इस क्षेत्र में रामनगर के शासक दमन की पुर्तगाली जनता से अपनी मित्रता के मूल्य के रूप में चौथ वसूल करते थे। दमन के पुर्तगाली उपनिवेशवादी रामनगर के शासक को चौथ देने के पश्चात उसके निरन्तर आक्रमण तथा लूटपाट से मुक्त हो जाते थे।[6]

रामनगर के शासक तथा पुर्तगाली उपनिवेशवाद के मध्य हुई 1635 ई. की संधि में एक महत्वपूर्ण बात का उल्लेख मिलता है कि चौथ का अर्थ 'चतुर्थांश' है किन्तु रामनगर के शासक को चतुर्थांश न मिलकर कुछ परगनो में कुल आय का 17 प्रतिशत कुछ में 14 प्रतिशत और कुछ में $12^{1/2}$ प्रतिशत ही प्राप्त होता था। चौथ की भाँति सरदेशमुखी की उत्पत्ति भी अति प्राचीन है। महाराष्ट्र में अति प्राचीन काल से ही कृषि पर राजस्व एकत्रित करने वाला ग्राम अथवा जिला

अधिकारी देशमुख कहलाता था। ये अधिकारी सरकारी वेतनभोगियों की भाँति अपनी सेवाओं के बदले सरकारी वेतन प्राप्त न कर वसूली का 10 प्रतिशत ही कमीशन के रूप में प्राप्त करते थे इन देशमुखों का कार्य किसानों को सुविधाएँ प्रदान करना एवं गाँव के सामान्य प्रशासन की देखभाल करना होता था अति प्राचीन काल से चली आ रही इस देशमुखी परम्परा पर शासकों के परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और यह उसी प्रकार निरन्तर चलती रही। देशमुखी के ऊपर सरदेशमुख होता था जो विभिन्न गाँवों या एक जिले का मुखिया होता था और उसका कर्त्तव्य समस्त जिले में शान्तिर्पूव तथा सुव्यवस्थित शासन चलाना होता था।[7]

शिवाजी को जब चौथ के रूप में रामनगर के शासक की स्थायी तथा निश्चित आय का पता चला तो उसने भी आय के इस विभिन्न साधन का अपने लाभार्थ प्रयोग करने का निर्णय किया। किन्तु इस साधन के प्रयोग के लिए विस्तृत क्षेत्र की आवश्यकता थी। शिवाजी ने विरासत में प्राप्त कुछ क्षेत्रों में 'स्वराज्य' स्थापित किया इस क्षेत्र का स्वरूप स्पष्टतः मराठा था। इसके पश्चात शिवाजी ने मुगल क्षेत्रों पर धावे मारकर अपने अधीनस्थ क्षेत्र को विस्तृत करने का प्रयास किया जैसे ही शिवाजी ने इन क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया उसने इन क्षेत्रों के सामन्तों या नेताओं को कहा कि या तो वे पूर्णरूपेण उसके अधीन हो जाएँ या अपनी वार्षिक आय का एक चतुर्थाश उसको दे दें जिसके बदले में वह आगे उन्हें तंग नहीं करेगा। इस प्रकार अर्द्ध–विजित प्रदेशों का ऐसा वर्ग उदित हुआ जो चौथ देता था तथा उसके प्रति स्वामीभक्ति रखता था किन्तु जिसके आन्तरिक कल्याण और जन–प्रशासन के लिए वह प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी नहीं था।[8]

यद्यपि शिवाजी ने भी रामनगर के शासक द्वारा अपनाए गए आय के इस नियमित साधन का अनुकरण किया किन्तु ऐसा उसने भिन्न उद्देश्यों तथा भिन्न तरीकों से किया जिसके कारण उसके द्वारा वसूल की गई चौथ का स्वरूप भी भिन्न था।

शिवाजी को मुगल सत्ता से निरन्तर संघर्ष करने के लिए आय के ऐसे, स्रोतों की आवश्यकता थी जिससे उसे निरन्तर धन प्राप्त होता रहे। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर शिवाजी ने आय के उक्त दोनों साधनों को अपनाया।

संदर्भ–सूची :–

1. डॉ. एस.सी. मिश्रा, प्रताप सिंह, मराठों का इतिहास, रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर पृष्ठ संख्या–299।
2. यदुनाथ सरकार कृत शिवाजी, पब्लिकेशन स्कीम जयपुर–इंदौर, 1985, पृष्ठ संख्या–156।
3. गोविन्द सखाराम सरदेसाई, मराठों का नवीन इतिहास तृतीय खण्ड, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी आगरा, 1972 पृष्ठ संख्या–21।
4. जेम्स कनिंघम ग्राण्ट डफ, मराठों का इतिहास, महामन प्रकाशन मंदिर इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या–201।
5. यदुनाथ सरकार, पर्वोक्त, पृष्ठ संख्या–158।
6. डॉ. एस.सी. मिश्रा, प्रताप सिंह, पूर्वोक्त, पृष्ठ संख्या–301।
7. डॉ. एस.सी. मिश्रा, प्रताप सिंह, पूर्वोक्त, पृष्ठ संख्या–304।
8. यदुनाथ सरकार, पूर्वोक्त, पृष्ठ संख्या–161।

आचार्य विद्यानिवास मिश्र : भाषा और शिल्प

डॉ. आशुतोष मिश्र*

पं0 विद्यानिवास मिश्र संस्कृत के मूर्धन्य विद्वान्, हिन्दी के उत्कृष्ट व्यक्ति–व्यंजक निबंधकार, बहुभाषाविद्, भाषा वैज्ञानिक और भारतीय संस्कृति के उद्भट व्याख्याता हैं। अनेक वर्ष तक कोश रचना के कार्य में संलग्न होने के कारण भाषिक प्रयोग की विविध अर्थच्छवियों, अर्थच्छटाओं के आस्वादपरक प्रभावमय संयोजन में निबंधकार को अप्रतिय सफलता मिली है। भावों के अंछोर संवहन में कुशल मिश्र जी ने स्वीकार किया है कि– 'वैदिक सूक्तों के गरिमामय उद्गम से लेकर लोकगीतों के महासागर तक जिस अविच्छिन्न प्रवाह की उपलब्धि होती है, उस भारतीय भावधारा का मैं स्नातक हूं, मेरी मान्यताओं का वही शास्वत आधार है। मैं रेती में अपनी डोंगी नहीं चलाना चाहता और न जमीन के ऊपर बने रूँधे तालाबों में छपकोरी खेलना चाहता हूँ।[1]

भारतीयता को प्रदूषित करने वाले तत्वों से टकराते हुए भाषा के कई रूप सामने आए हैं मसलन व्यंग्य, हास्य, ललित, पौराणिक, आख्यानपरक, विश्लेषणात्मक, चिंतनपरक भाषा शिल्प के दर्शन होते हैं। कहीं–कहीं भाव प्रवणता और दार्शनिकता से बोझिल होकर भी उसकी व्याख्या में इसीलिए पुनर्रचना का आस्वाद मिल सका है। उनकी संवेदन शिराओं को भाव निमग्न कर तान देने वाली भाषा परिवेश से जुड़ने की ललक और उखड़ने का दर्द बखूबी बयां करती है। मर्म मेदुर और सांध्र भाषा बुनावट के बीच उनमें एक दर्द तथा बेचैनी भरी व्याकुलता से लसित भाषा खीझ और व्यंग्य के साथ किन्तु सविशेष अछोर रमणीयता लिए हुए भावोद्रेक सहित पाठक को साझीदार बनाती है। वे गहरी से गरही अनुभूति के अभिव्यक्ति की प्रभावकारी भाषा रचते हैं। यायावरी जीवन–वृत्ति, वाचिक परम्परा–निष्ठा तथा अस्मिता की तलाश भाषा में चित्त का संस्कार करने में समर्थ हैं। वे विचारों और भावनाओं को भाषा में श्रृंखलावद्ध कर उसे लालित्य की आभा देते है। इसीलिए उनके लेखन से गुजरना जमाने की गंध और जांच से गुजरना है। सही मायने में निबंधकार मिश्र जी शब्द–सृष्टि के महाशिल्पी हैं। उनमें लालित्य तत्त्व किसी भी प्रकार से आरोपित नहीं है। अज्ञेय जी के शब्दों में 'वे लालित्य उड़ेलते नहीं बल्कि पाठक के मन में उपजाते हैं'।[2]

उनमें व्यापक शब्द संज्ञान है–संस्कृत, हिन्दी, उूर्द, अंग्रेजी, भोजपुरी, ब्रज आदि के शब्द प्रयुक्त करते वे पानीदार भाषा का सृजन करते हैं। पं0जी ने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मूल्यांकन करते लिखा था– 'द्विवेदी जी बहुश्रुत हैं और हैं कथा कौतुकी भी। वीणा के एक तार को हूते ही जैसे वीणा बड़ा बज उठती है, उसी प्रकार एक विषय वस्तु को हूते ही द्विवेदी जी के भीतर सैकड़ों विचार बज उठते हैं।'[3] वास्तव में यह टिप्पणी स्वयं श्री मिश्र जी पर सटीक लगती है। भाषा का लोच, ओज, आर्द्रता, सरलता, लालित्य, आकर्षण यह सब उनमें मिल सकता है। दूसरी ओर तंत्र साधना की जटिल शब्दावली से युक्त भाषा है, जो विशेष पाठक वर्ग की मांग करती है। विषय के गूढ़ ग्यान के बिना इस भाषा कथ्य को समझना मुश्किल है। उनका भ्रमरानंदी मन लोक के अनेक स्याह पक्ष से आकुल व्याकुल होता है तो व्यंग्य का सृजन भी करता है। विलक्षण प्रभावकारी भाषा, जो दूसरों से उन्हें भिन्न बनाती है। इसका एक संग्रह ही है– 'भ्रमरानंद के पत्र।' शिक्षा, साहित्य और

***सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, महामाया राजकीय महाविद्यालय, श्रावस्ती, उ. प्र.।**

राजनीति के अवसरवादी तेवरों को लपेटते हुए 'दादुर वक्ता भए' शार्षक 'पचड़े' का अेश दृष्टव्य है– 'दादुर पचास के वक्ता ही हैं। प्रवक्ता शब्द का प्रयोग इस भय से नहीं कर रहा हूँ कि उससे राजनीति के दलों को बुरा लग सकता है।'.... 'मंडूकों के साथ यह बात नहीं है। वे खुलकर बोलते हैं। कहाँ बोलने की प्रतिस्पर्द्धा होती है। एक से दूसरा बढ़ चढ़कर बोलता है।'[4]

'डेरी बनाम खेती', 'आधुनिक शिक्षा' 'पत्र इंटेलेक्चुअल भैया के नाम, 'फाग मण्डली' आदि अनेक विषय पर निबंधकार सधी चुटीली भाषा में लक्षित तेवर के साथ सधी व्यंग्य शैली अपनाकर पाठक को पूरा भाव संप्रेषित कर देता है। करूणा दृष्टांत और भीतर की ईमानदारी से ऐसी भाषा व्यक्त हुयी है जो मृदुल ओठ से मुस्कराते हुए श्रोता था पाठक के कर्ण तान देती है। दरअसल व्यंग्य लेखन का मूल स्रोत तो करूणा तथा अवसाद है, परिस्थितियों के प्रति खिन्नता और वाजिब विद्रोह है। इसीलिए ऐसी भाषा भी दिखती है जो मृदुता, तेवर, लक्ष्य, खिन्नता और वाजिब विद्रोह यह सब एक साथ लेकर चलती है। हिन्दी के सभी व्यंग्यकारों की भाषा शैली से इसी मायने में निबंधकार भिन्न है। व्यंग्य शिल्प की अदाकारी और सम्मोहन विलक्षण बन पड़ा है। युगीन और शाश्वत मूल्यों तथा सामायिक निहितार्थो की रोचक पड़ताल की भाषा की इजाद कर लेते हैं। विषय, भाषा और शिल्प का समन्वय उनका अद्भुत है। काल–संघर्ष की परख, सम्प्रेषण तथा चमत्कृत प्रभाव उत्पन्न करने की कला और शक्ति पैदा करने वाली भाषा शिल्प के अद्वितीय प्रयोक्ताा बन गए हैं। उनका भाषिक सरोकार भाषा की अतिरिक्त और अनावश्यक दलील नहीं' है, चाहे कथ्य कितना ही दीर्घ हो! उसमें कथा रस का आस्वाद है और उसमें एक संदेश संकेत जरूर रहता है। संस्कृत वाड़्गम्य और व्याकरण, ज्योतिष, तंत्र साधना की भाषा का वाहन ज्ञान भावों की गहराई और सम्पूर्ण अभिव्यक्ति उद्देश्यों की सफलता देता है।

भाषा शिल्प की सम्पूर्णता का प्रतिमान बनकर उनका साहित्य मार्गदर्शन कर सकने में समर्थ है। अभिव्यक्ति की सार्थकता तथा शब्द सृष्टि एवं प्रयोग की महाप्रभुता के धनी अपने तरह के अनूठे अकेले साहित्यकार के रूप में उन्हें जाना जाएगा। लोक जीवन में रचे बसे और माटी की गोरज गंध समेटे उनके शब्द भण्डार को देखकर आश्चर्य होता है। यथा– 'गाँवों में कहा जाता है जिस घर में गौरया अपना घोषला नहीं बनाती हैं, वह घर निर्वंश हो जाता है। एक तरह से घर के आंगन में गौरयों का दीढ़ होकर चहचहाना, और घूम फिरकर फिर रात में घर ही में बस जाना अपनी बढ़ती चाहने वाले गृहस्थों के लिए बच्चों की किलकारी, मीठी शरारत और निर्भय उत्छलता का प्रतीक है...... ..। चीन प्रज्ञा पारमिता का देश है, बुद्ध मैत्री का देश है, नये युग में मनुष्य के उदार का दावा करने वाला देश है और सह–अस्तित्व, परस्पर सहयोग और प्रेम की कसम खाने वाला देश है लगता है चीन में जैसे कोई घर न रह गया हो, कोई आंगन न रह गया हो, किसी घर और किसी आंगन के लिए कोई मुहावर न रह गयी हो, और अगर रह भी गए हो तो किसी बच्चे के चेहरे पर विश्वास की चमक न रह गयी हो तभी तो इन गौरयों के साथ नादिरशाही बदला किया जा रहा है।'[5]

लेखक भावहीन लेखन को निराभूसा ओसाना (सूखी कटी हुयी फसल की डंठकों में अनाज ढूढ़ना) मानता रहा है। भावहीन केवल का मूल्य नहीं हो सकता। अस्तित्व, अस्मिता, प्रेम, तर्क, मूल्य, विचार यह सब उनकी भाषा सम्पदा वहन करती है इसीलिए उनकी भाषा निरा वाग्जाल होने से सदैव बची है। लोक सरोकार, व्यंजना और लालित्य की लसित परिणतियाँ और नवोन्मेषी भाषा शैली उनके लेखन को गरिमा तथा गौरव देते हैं। अस्मिता का गठजोड़ तथा महाभाव महाराग के साथ

निर्वाह हो, ऐसी भाषा वे सदैव रचना चाहते हैं, ताकि आदमी विभक्त मन वाला न बने। यह इनकी भाषा सम्पदा की सबसे बड़ी सिद्धि मानी जा सकती है। इसीलिए उनका लेखन भारतीय वैश्वानर मनीषा का अद्भुत उदाहरण बन सका है। वे अद्भुत भाषा प्रयोक्ता और शैलीकार हैं। मानक और देशज प्रयोग उनकी भाषा सम्पदा की ताकत हैं। लोक और शास्त्र की भाषा भी उनमें घुल मिल गयी है। उनकी भाषा सम्पदा का ठीक परिमाप पाने के लिए वैदिक साहित्य से लेकर भोजपुरी बोली की आत्मीयता का परिचय पाना सही मायने में उपयोगी है। वे निरन्तर अपनी भाषा में आत्मीय संवाद स्थापित करते हैं। उनका पाठक इनके 'स्व' से उत्कृष्टतर है तथा एक प्रकार की आत्मीयता का लालित्य तत्त्व रचने वाली भाषा पाठक को निबंधकार से जोड़े रहता है। माधुर्य प्रसादमय ओज तथा शाब्दी व्यंजना की सभी शक्तियाँ और छवियाँ उनके यहाँ विराजमान हैं। वे कहते हैं 'मैं भी अंग्रेजी में लिखता हूँ पर मन से नहीं, सम्प्रेषण की लाचारी से। यह सही है कि बहुत से अंग्रेजी के विद्वान, हिन्दी में सोचते है कि वे जानते हैं कि अपने विचारों को हिन्दी में व्यक्त किया जा सकता है!'[6] उनका भाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण गंभीर और व्यापक है। संस्कृत निष्ठ और लोक की सरल सहज भाषा दोनों उनके लिए काम्य है। समास बहुल संस्कृत शब्द राशि से लसित निबंधों में 'हिमालय' 'छितवन की छॉह' 'लागौं रंग हरी', 'जीवन अलभ्य है, जीवन सौभाग्य है', 'स्वरूप–विमर्श', 'महाभारत का काव्यार्थ' आदि है। ललित भावमयता का नमूना देखे– ''छितवन का सौन्दर्य उसकी दृष्टि में नहीं, उसकी समाष्टि में निहित हैं। छितवन के सौन्दर्य में लपट नहीं, आँच नहीं, छलछलाता हुआ मधुरस नहीं, मंजरित कलकंठ नहीं और पुलक संस्पर्श नहीं... गंध, निमिश्र गंध और पवित्र गंध वह भी छितवन के एक–एक फूल में अलग–अलग नहीं उसके समूचेपन में एक साथ हैं, अविभाज्य और अविकल।'[7] भाषा को लेकर अनेक विचार उनके मन में कौंधते हैं। इस दायित्व का वे बड़ा दायित्व को वे मानते हैं।

लेखक के लिए भाषा मात्र व्यवहार सत्ता नहीं बल्कि अस्मिता का द्वार है। सतही सोच, एकांकी मन से, खण्डित दृष्टि से लेखक की भाव प्रवण शब्द राशि एवं चिन्तन को समझ पाना दुष्कर है। उनकी भाषा सम्पदा तथा अभिप्राय को ठीक प्रकार से हृदयंगम करने के लिए चेतना का संस्कार, लोक शास्त्र युक्त वैदिक भाषा परम्परा का ज्ञान होना उपयुक्त है। 'प्रभुत्व ज्वर अस्पताल' निबंध में 'डिनर' और 'एटहोम' जैसे शब्दों के प्रयोग के संदर्भ में लिखते हैं–'प्रभुता का ज्वर जिनके ऊपर अधिक पड़ा हुआ है के यह भूल गए हैं कि उनकी बोली कभी कुछ दूसरी थी और अभी भी ज्वर युक्तों की बोली दूसरी ही हैं.... देशी बोली में चाय पीना भी उनके लिए दुश्वार है।.... मेरे एक रोगी मित्र को हिन्दी में सबसे बड़ी शिकायत यही थी कि और तो ठीक है पर ऐट–होम का निमंत्रण हिन्दी में कैसे छपवाया जा सकता है।

अंग्रेजी मुहावरों के बिना थोड़ी देर के लिए आप चाय पी भी लें पर डिनर तो बिलकुल बदमजा हो जाता है.....डिनर का मजा बरकार रहे, बोलियाँ तो बनती बिगड़ती रहती हैं। नए भाषा विज्ञान का तो पहला उसूल है कि भाषा मनुष्य वाग्यंत्र पर आरोपित व्यापार हैं, उसका सहजात व्यापार नहीं।'[8] 'पराम्परागत संस्कृति की अनुलंघ्य सांस्कृतिक रूढ़ि वाली भाषा प्रयोग करने के बावजूद ठेठ लोक की भाषा भी खूब प्रयुक्त हुयी है और वह मनुष्य, साहित्य, संस्कृति तथा लोक अस्मिता से सम्पृक्त है। वे 'सही भाषा और 'सहज भाषा' पर जोर देते हैं। सही भाषा वास्तव में सहज हो तभी वास्तव में सही है।'[9] सूत्रात्मक, विश्लेषणात्मक, आत्मव्यंजक, लालित्यमय, भावप्रवण,

व्यंग्यात्मक, विचार शैली के अतिरिक्त के अतिरिक्त कथा–शैली, आलोनात्मक, समास, संवाद, व्याख्यापरक, तर्क और उदाहरण शैली का प्रयोग निबंधों में घुले मिले हैं। रागसिक्त संवेदना, उन्मुक्त चिंतन, गहन लोक सम्पृक्ति की आधार भूमि उनके निबंध शैली का निर्धारक तत्त्व है। प्रभाकर मिश्र के शब्दों में ''भावमयता'' भावाकुलता, हृदयरस संभार में लौकिक और अलौकिक की सम्बन्धजनित वर्णना विद्यानिवास जी की शिल्प संवेदना की अद्भुत विशेषता है। प्रतीकात्मकता, हास्य मिश्रित व्यंग्य विनोद भी इसके साथ संपुटित है। जीवन के विधि क्षेत्रों से वे शब्द गृहण करते हैं। इसीलिए भाषा रचना काव्यगंधी बन गयी है। वे शब्दों के माध्यम से कार्य विषय का चित्र उतार देते हैं। चित्रोपम प्रतीकात्मकता के माध्यम से ठसाठस होकर भी बेझिल नहीं करती'' जो हिन्दी की प्रकृति में संस्कृति की सर्वग्राही परम्परा से पल्लवित हुयी है, जिसमें कालिदास की लालित्य योजना और वाणभट्ट जैसी वाक्य संरचना का आस्वाद तथा सूरदास और तुलसीदास की आंचलिकता से आप्लावित शब्द योजना का मधुर संगम है' ।[10]

सही अर्थों में उनकी भाषा जीवन के अस्वाद की भाषा है वस्तु के साथ कथन भंगिमा के पैनापन, भावदृप्त राग संवेदना लेखक की सहृदयता वाग्विदग्धता की भाषा भी उतनी ही रम्यता और पाठक के लिए रमणीयता तथा आकर्षण का विषय है, उन्होंने भाषा शिल्प को नयी अर्थवत्ता और भावाकुलता दी है।

निबन्धकार का मानना है कि ''अभी हिन्दी का व्यापक जन आधार नहीं बना है। हम हिन्दी भाषी जनता में आत्मगौरव नहीं जगा सके है। असम की साहित्य सभा में ढ़ाई लाख लोग साहित्यकारों को चुपचाप ध्यान से सुन सकते है। मलयालम की कवि के अर्थी के साथ ढाई लाख लोग चल सकते है और उनके राजनेता उसी अर्थी को कंधा देने में अपने अस्तित्व की सार्थकता मान सकते है पर क्या यह हिन्दी क्षेत्र में संभव है! और यदि संभव नहीं तो कहीं हम इसके अपराधी तो नहीं है।...हमने तो मिथ्या भय से अपनी सूरत बिगाड़ रखी है। हिंदेशिया से पहले मैंने मलेशिया में कई दिन बिताये थे और एक भाषा विद्वान् की बात आज तक मुझे झकझोरती रही है कि–''कैसे लोग आपके देश के, भाषा शास्त्र के इतने बड़े तत्ववेत्ता जहाँ पच्चीस सौ वर्षों से हुए है, वहाँ इतनी छोटी सी बात नहीं समझी जा सकती कि देश की अस्मिता अपनी भाषा से होती है और एक देश में मुख्य भाषा होती है यह दूसरी भाषाओं से समृद्ध हो दरिद्र यह बिल्कुल ही उपेक्षणीय है। अगर वह सम्पर्क भाषा की क्षमता रखती है तो दूसरी भाषाओं की अपेक्षा उसका सुनियोचित विकास करना ही होगा। यहाँ दशा यह है कि हम साहसपूर्वक यह बात भी नहीं कह सकते!'[11]

उनके लेखन में लोकरमण चित्त से भाषा की यायावरी और आत्मीयता की मिश्रित सुगन्धि मिलती रहती है। भाव–प्रवण शब्दों के प्रयोग में उनका कोई समकक्षी (रेखाचित्रों में महादेवी वर्मा को छोड़कर) न तो हिन्दी गद्य–संसार के अतीत में दिखता है और न अभी। उन्होंने अपने लेखन में आकर्षण, सम्प्रेषण एवं प्रभाव की दृष्टि से कुछ नवीन शब्दों यथा–लिस्टारलंकार, विगलद्योवना, रत्नकरण्डव्यूह, परिदारविर्महषी, बकुलमंजरी के साथ महत्वपूर्ण पारम्परीण शब्दों–उज्जृम्भण, उरूश्रृंग, कुज्झटिका, बन्दनवार आदि का प्रयोग किया है।

उनकी भाषा योजना का कुछ नमूना ध्यातव्य है :–

❖ अपने उज्जृम्भण से जागरण का संदेश देने वाली रूपसी या वंशी के स्वर पर अनाहत नाद छेड़ने वाली...... प्रभा छिटकती है।

- ❖ ...पटवारी की तरह गोनिया परकार लेकर अतलस्पर्शी सूक्ष्म भावनाओं की माप जोख मनमाने तौर पर करते रहते हैं।
- ❖ कालिदास का प्रेम ऐसा सस्ता नहीं, इसी से ऐसे अधकचरे प्रेम में अन्तराय लाना उन्हें अभीष्ट हो जाता है।
- ❖ कम्पोजिट कल्चर की भाषा मनुष्य की बोली नहीं ऑक्रेस्ट्रा है।
- ❖ ...भ्रमरानन्द के वन–बाग परतंत्रता की कुज्झटिका के कटते ही अरूणिम प्रकाश में खिलने के बजाय अहक उठे।
- ❖ पान सुना है उन्हीं अधरों पर रचता हैं, जिन्हें प्रिय का सुहाग मिला हुआ है। धान कर्त्तव्य है, पान अधिकार है। हमारा कर्त्तव्य कठोर है, पर हमारा अधिकार बड़ा ही कोमल है।

उपर्युक्त प्रयोग जिस वजन और 'विजन' को समेटे हुए है यही विद्यानिवास मिश्र के निबन्धों के लालित्य, रम्यता बोध और वैचारिकी का मूल स्रोत और सेतु है। उनकी शब्द योजना की निपुणता और कुशलता छायावादी और प्रयोगवादी तथा नयी कविता के शलाका कवियों की बरबस याद दिलाती है। उनके निबन्धों में जो भावोच्छल रंग अपनी इन्द्रधनुषी रंगों, आभा और दीप्ति तथा विच्छिति एवं शोभा के साथ विद्यमान है वह उन्हें अलग एक कृती रचनाकार और कालजयी साहित्यकार बनाने में समर्थ है। वे शब्दों को टटोलते और तौलते नहीं बल्कि वे अनायास उनके हृदय–कमल से अपनी पूरी गन्ध प्रवणता के साथ पाठक को आद्यन्त अपने साथ रमाये हुए अपनी सुरभि से सुवासित रखते हैं, यही शब्द–सम्पदा विद्यानिवास जी की साधना और सिद्धि दोनों है। यह सिद्धि उन्हें नित्य जीवन, अभिनव और पुनर्नवा बनाती है तथा अपने समकालीनों से अलग तेवर और कृती व्यक्तित्व प्रदान करती हैं, क्योंकि इसकी जड़ें लोक और शास्त्र में पैठी हैं। इसी निपुण शब्द योजना के कारण वे लोक चित्त की खेती करते हैं और शास्त्रकी व्याख्या–पुनर्व्याख्या करके पुनर्रचना का आस्वाद देते हैं।

सन्दर्भ–सूची :–

1. पंडित विद्यानिवास मिश्र, डा. प्रभाकर मिश्र, उ0प्र0 हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण 2020 (मूल स्रोत–आंगन का पंछी और बंजारा मनः विद्यानिवास मिश्र)।
2. विद्यानिवास मिश्र की शब्द सम्पदा, आशुतोष मिश्र, एकेडेमिक बुक हाउस, भोपाल, प्रथम संस्करण 2010 पृष्ठ : 7।
3. विद्यानिवास मिश्र के निबंधों में सामाजिक सांस्कृतिक मूल्य, आशुतोष मिश्र, क्लासिकल पब्लिकेशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008, पृष्ठः 64।
4. दादुर वक्ता भए' : भ्रमरानंद के पत्र, प्रभात प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण 1981 पृष्ठ : 66।
5. विद्यानिवास मिश्र की शब्द सम्पदा, आशुतोष मिश्र, एकेडेमिक बुक हाउस, भोपाल (म0प्र0), प्रथम संस्करण 2010 पृष्ठ : 140, 141 (गांव का मन : श्रीविद्या निवास मिश्र)।
6. सांस्कृतिक आलोक से संवाद, पुष्पिता, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण 2006 पृष्ठः 62।
7. छितवन की छांह, सरस्वती प्रेस, बनारस, 1953 पृष्ठः 19।
8. भ्रमरानन्द के पत्र, प्रभात प्रकाशन नई दिल्ली, 1981, पृष्ठः 66।
9. श्रीविद्यानिवास मिश्र की शब्द सम्पदा, आशुतोष मिश्र, एकेडेमिक बुक हाउस, भोपाल (म0प्र0), प्रथम संस्करण 2010 पृष्ठ : 141, 142।
10. निबंध आलोक, डा0 प्रभाकर मिश्र, नील कमल प्रकाशन गोरखपुर संस्करण 2020 पृष्ठः 27।
11- भ्रमरानन्द के पत्र, प्रभात प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण 1981 पृष्ठः 66, 199, कौन तू फुलवा बीननिहारी, नेशनलपब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1980 पृष्ठः 64।

'विद्याश्री न्यास' द्वारा आयोजित संगोष्ठी 2020 के कार्यक्रम में 'आलोचन दृष्टि' पत्रिका के 'भारत और भारतीयता' पर केन्द्रित विशेषांक का लोकार्पण

'विद्याश्री न्यास' द्वारा आयोजित संगोष्ठी 2020 के कार्यक्रम में 'आलोचन दृष्टि' पत्रिका के 'भारतीय चिंतन के विविध आयाम' पर केन्द्रित विशेषांक का क्रमशः डॉ. हितेंद्र कुमार पटेल, प्रो. सुधीर चंद्र, प्रो. कमलेश दत्त त्रिपाठी, डॉ. दयानिधि मिश्र, डॉ. सुनील कुमार मानस और डॉ. योगेश कुमार तिवारी लोकार्पण करते हुए।

संपादकीय / प्रकाशकीय पता :–

आलोचन दृष्टि प्रकाशन

आजाद नगर, बिन्दकी, जनपद–फतेहपुर, उ0प्र0–212635

ई–मेल : **aalochan.p@gmail.com**

दूरभाष : **09580560498 / 09451949951 / 7376267327**